8

धर्म-शिक्षा

ओ३म्

श्रीमद्दयानन्द कॉलिज प्रबन्धकर्त्री सभा
नई दिल्ली—११००५५

॥ ओ३म् ॥

धर्म-शिक्षा

[भाग-8]
(आठवीं कक्षा के लिए)

●

संशोधित तथा परिवर्धित
बाईसवां संस्करण

●

प्रकाशक :

श्रीमद्दयानन्द कॉलेज प्रबन्धकर्तृ समिति
चित्रगुप्ता मार्ग नई दिल्ली-५५

(सन् 1993) मूल्य 7-00 रु०

॥ ओ३म् ॥

आर्य समाज के नियम

१. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्याय-कारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी को उपासना करने योग्य है।

३. वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर करने चाहिये।

६. संसार का उपकार करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य बर्तना चाहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में संतुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।

भूमिका

उपनिषद् में लिखा है कि माता-पिता तथा आचार्य की कृपा से ही मानव-जीवन विकसित होता है। इन तीनों व्यक्तियों के सहयोग से ही बालक अथवा बालिका योग्य व्यक्ति बन सकते हैं। विद्यालय ही एक ऐसा स्थान है जिसमें बच्चों के भावी जीवन की रचना होती है। स्वस्थ वातावरण में विद्याध्ययन करने से, उनके भावी जीवन का सर्वतोमुखी विकास संभव है। वेद में तीन समिधाओं को सम-अनुपात से प्रज्जवलित करने की आज्ञा है। इसका तात्पर्य है हृदय, मस्तिष्क तथा शरीर का समुचित विकास, हृदय में धर्मग्रन्थों तथा माता-पिता के प्रति श्रद्धा, आर्य संस्कृति के गौरव का गर्व, राष्ट्र तथा उनके नायकों के प्रति स्नेह, मस्तिष्क की पिटारी को ज्ञान, विज्ञान एवं तर्क संगति से परिपूर्ण कर दिया जायेगा, जिससे वह नव-ज्ञान को प्राप्त करे और संसार के पाखण्डियों के चंगुल में न फंस सके।

डी० ए० वी० कॉलेज प्रबन्धकर्त्री समिति ने इसी उद्देश्य को सामने रखकर देश में कॉलिजों और स्कूलों का जाल बिछा दिया है जिसमें लाखों छात्र-छात्राएं शिक्षा प्राप्त कर अपने भावी जीवन को पवित्र तथा राष्ट्रोपयोगी बना रहे हैं। समय-समय पर धर्म-शिक्षा के प्रकाशन से छात्रों में चरित्र-निर्माण, संस्कृति-प्रेम, राष्ट्र-स्नेह तथा विचार-शक्ति की प्रेरणा दी जा रही है। इस अभिनव संस्करण की रचना प्रबन्धकर्त्री समिति के निर्देशों के आधार पर श्री अर्जुनदेव शास्त्री ने, श्री पं० रामगोपाल शास्त्री व श्री सी० एल० आनन्द जी की सहायता से की है। इसमें सभी प्रकार से उचित सामग्री का समावेश किया गया है।

आशा है इन पुस्तकों का पाठ्यक्रम बच्चों तथा नवयुवकों के चरित्र निर्माण में पूर्णतया सहायक होगा।

निवेदक—

मंत्री, डी० ए० वी० कॉलेज
प्रबन्धकर्त्री समिति, नई दिल्ली

विषयानुक्रमाणिका

पाठ 1

भजन

हे प्रेममय प्रभो तुम्हीं सबके आधार हो ।
तुम को परम पिता प्रणाम बार-बार हो ॥
ऐसी कृपा करो कि सभी धर्म वीर हों ।
वैदिक पवित्र धर्म का जग में प्रचार हो ॥
सन्देश देश-देश में वेदों का दें सुना ।
समभाव और प्रेम का सब में प्रसार हो ॥
असहाय के सहाय हों उपकार हम करें ।
अभिमान से बचें हृदय निर्भय उदार हो ॥
फूले फले संसार में यह रम्य वाटिका ।
कर्त्तव्य हम को सदा अपने विचार हो ॥
स्वाधीनता के मन्त्र का जप हम सदा करें ।
सेवा में मातृभूमि की तन-मन निसार हो ॥

१. समभाव—सबको समान समझना । २. प्रसार—फैलाव ।
३. असहाय—अनाथ । ४. वाटिका—बगीचा (आर्य समाज)
५. निसार—बलिदान ।

वेदों की शिक्षाएँ

(भाग १)

आर्य जाति के सर्वोत्तम धर्म ग्रन्थ वेद हैं। इनका आविर्भाव सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों के हृदय में हुआ था। वेद चार हैं।

१. ऋग्वेद २. यजुर्वेद ३. सामवेद और ४. अथर्ववेद इस पाठ में हम पढ़ेंगे कि वेदों में किस-किस प्रकार की उत्तम शिक्षाएं हैं।

उन अनेक शिक्षाओं में से कुछ एक शिक्षाएँ निम्नलिखित हैं—

१. शरीर सम्बन्धी शिक्षा, २. बुद्धि सम्बन्धी शिक्षा, ३. चरित्र सम्बन्धी शिक्षा, ४. परिवार सम्बन्धी शिक्षा, ५. समाज सम्बन्धी शिक्षा, ६. धन सम्बन्धी शिक्षा, ७. प्राणी सम्बन्धी शिक्षा तथा ८. फुटकर।

१. शरीर सम्बन्धी शिक्षा

वेद में कहीं भी शरीर की निन्दा नहीं की गई और न ही इसे घृणा की दृष्टि से देखा गया है, बल्कि इसे देवों की नगरी माना गया है।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

(अथर्व १०, २, ३१)

अर्थात्—हमारा शरीर देवों की नगरी है। इसके आठ मुख्य स्थान हैं और नौ इसके द्वार हैं। प्रकाश स्वरूप परमात्मा

के दर्शन इसी में होते हैं। इसी शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाना हमारा परम कर्त्तव्य है, ताकि हम सौ वर्ष तक जी सकें।

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् श्रुणुयाम शरदः शतम्।
प्रब्रवाय शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्।

अर्थात्—हम सौ वर्ष तक देखें और जिएँ। हम सौ वर्ष तक सुनें। हम सौ वर्ष तक वाणी का प्रयोग करें। हम शरीर को इस प्रकार दृढ़ बनाकर रखें कि कभी प्राधीन न हों।

वेद में मनुष्य मात्र को उपदेश दिया गया है।
मा पुरा जरसो मृथाः। (अथर्व ५, ३०, १७)

अर्थात्—हे मनुष्य ! पूर्ण वृद्धावस्था से पूर्व मत करो। अन्यत्र कहा गया है।

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राधीय आपुः प्रतरंदधानाः।
(ऋग्वेद १०, १८, २)

अर्थात्—हे मनुष्यो ! मृत्यु के पाँव को परे हटाते हुए, लम्बी आयु को अधिक दीर्घ बनाकर जियो।

कई लोगों का विचार है कि जो लोग शीघ्र मर जाते हैं, वे परमात्मा के प्रिय होते हैं। प्रेम के कारण परमात्मा उन्हें शीघ्र ही अपने पास बुला लेता है। वेद के इस मंत्र पर विचार करें—

मा भेम न मरिष्येसि, जरदष्ट करोमि त्वाम्।

अर्थात्—तुम डरो नहीं, तुम नहीं मरोगे। मैंने तुम्हारे शरीर को सुदृढ़ बनाया है। कई साधुओं नें इस शरीर की निन्दा की है। वे इस शरीर को एक बताशे के समान बतलाते

है जो कि पानी में पड़कर घुल जाता है; परन्तु वेद इस प्रकार की शिक्षा नहीं देता।

आर्यो ! जात कर्म संस्कार में पिता आशीर्वाद देता है—

अश्माभव, परशुर्भव

अर्थात्—हे बालक तुम्हारा शरीर पत्थर के समान शुदृढ़ बने। कुल्हाड़े के समान तीक्ष्ण बने।

दीर्घ आयु को प्राप्त करना मनुष्य के अधीन है। यदि वह स्वास्थ्य के नियमों का पालन करे तो वह अवश्य ही सौ वर्ष तक इससे अधिक भी जी सकता है। इन्द्रियों को स्वच्छ रखना, मन को वश में रखना भी जीवन के साधन हैं।

ओं भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ् गैस्तुष्टुवां सस्तनूभिव्यशेमहि देवहितं यदायुः॥
(यजु० २५, २१)

अर्थात्—हे प्रभो ! हम कानों से शुभ सुनें, आँखों से शुभ देखें, हृष्ट-पुष्ट तथा अंगों से पवित्र आयु को प्राप्त करें।

जो लोग इन्द्रियों को पवित्र रखते हैं, वे अवश्य ही लम्बी आयु भोगते हैं।

हवन यज्ञ करने से पूर्व हम अपनी इन्द्रियों का निरीक्षण करते हुए प्रार्थना करते हैं—

वाङ्म आस्येऽस्तु नसोर्मे प्राणोऽस्तु, अक्षणोर्मे अक्षुरस्तु कर्णयोर्मे क्षोत्रमस्यु वाह्वोर्मे बलमस्तु; ऊर्वो में ओजोऽस्तु इत्यादि।

बुद्धि सम्बन्धी शिक्षाएं

शरीर कितना भी हृष्ट-पुष्ट क्यों न हो, यदि उस शरीर-धारी में बुद्धि न हो, तो उसका जीवन उत्तम नहीं बन सकता।

मनुष्य जीवन में बुद्धि का बड़ा महत्व है। हाथी कितना मोटा-ताजा प्राणी है, परन्तु एक छोटा-सा महावत उसे वश में करके उससे अनेकों कार्य लेता है। वन के हिंस्र प्राणी को बुद्धिमान् मनुष्य अपनी उँगलियों पर नचाता है। इसलिए वेद भगवान् ने मनुष्य को बुद्धिमान् बनने की अनेकों शिक्षाएँ दी हैं।

हमारे गुरुमंत्र गायत्री की इसलिए महत्ता है कि उसमें बुद्धि को पवित्र बनाने की प्रार्थना है।

"धियो यो नः प्रचोदयात्।' वह परम पिता हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करे। यदि हमारी बुद्धि असत् पथ की ओर चली जाये, तो हम बड़े-से-बड़ा पाप कर सकते हैं। बुद्धि को सत्य की ओर प्रेरणा न मिलेगी तो हमें महान् कष्टों का सामना करना पड़ेगा।

ऋग्वेद (१, ३, १०) में प्रार्थना आती है—
'पावका नः सरस्वती।' अर्थात् हमारी विद्या हमें पवित्र करने वाली हो।

तया मामद्य मेधया, अग्ने मेधाविन कुरु।
हे परमात्मन्! हमें पवित्र बुद्धि प्रदान करो।

३. चरित्र सम्बन्धी शिक्षाएं

संसार में चरित्र को जीवन का सबसे बड़ा तत्व कहा गया है। चरित्रशाली मनुष्य को देवता तथा चरित्रहीन को दानव कहा जाता है। महाराज श्रीराम चरित्र के कारण ही संसार में पूजित हुए और चरित्रहीन रावण दानव कहलाया। उपनिषद् में बताया है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि, प्रज्ञानेनैनताप्नुयात्॥

कोई मनुष्य कितना भी बड़ा विद्वान् क्यों न हो, यदि वह चरित्रहीन है तो वह परमात्मा को नहीं पा सकता। अनेक स्थानों पर वेद में प्रार्थना की गई है कि हे प्रभो ! हमें चरित्रवान् बनाओ।

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानी परासुव।
यद् भद्रं तन्न आसुव।

(ऋग्वेद ५, ८२, ५)

अर्थात्—हे समस्त संसार के उत्पन्न करने वाले प्रभो ! हमारे समस्त दुर्गुणों को दूर करो और कल्याणकारी गुण हमें प्राप्त कराओ।

चरित्रवान् वही है, जिसके मन और वाणी पवित्र हैं और जो वाणी से कटु भाषण नहीं करता। इसके लिए वेद में प्रार्थना आती है—

मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमत् भूयास मधु सन्दृशः॥

अर्थात्—हे परमात्मन् ! मेरा किसी प्राणी के समीप आना तथा किसी से दूर जाना मधुरता से पूर्ण हो। मैं मीठी वाणी बोलूं। मैं माधुर्य की मूर्ति बनूं।

जो मनुष्य मन का मैला अर्थात् लोगों का सदा अनिष्ट करने वाला हो वह चरित्रवान् नहीं कहला सकता। वेद में मन की पवित्रता के लिए अनेकों मन्त्र आए हैं।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

हे प्रभो ! तेरा मन उत्तम विचारों वाला हो।

४. परिवार सम्बन्धी शिक्षाएं

स्वस्थ बुद्धिमान् तथा चरित्रवान् मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने परिवार के व्यक्तियों से सद्व्यवहार करे। वह माता-पिता, भाई-बहन से यथोचित व्यवहार करे।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु सम्मानः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥
(अथर्व० ३, ३०, २)

अर्थात्—पुत्र पिता के सत्कर्मों के अनुकूल चले। पुत्र माता के मन के अनुकूल हो। पत्नी पति के साथ शान्ति युक्त वाणी बोले।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
(अथर्व० ३, ३०, ३)

अर्थात्—भाई से भाई और बहिन से बहिन द्वेष न करे।

इसमें परिवार के लोगों के साथ मधुर भाषण करने की आज्ञा दी गई है—'अन्योऽन्यस्मै वल्गु वदन्तः।' आप लोग परस्पर मधुर भाषण करो। जिस परिवार में एकता के भाव हों, वह परिवार सदा शक्तिशाली होता है। वेद ने कहा है—

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः,
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
(अथर्व० ३, ३०, ६)

आपके पानी पीने का स्थान एक हो, आपका अन्न भाग एक हो, मैं तुम्हें एक जोते के अन्दर साथ जोतता हूं।

परिवार में प्रेम होना आवश्यक है। वेद में इस पारिवारिक प्रेम को गाय-बछड़े की उपमा से प्रकट किया गया है—

अन्यो अन्यमभि हर्यंत, वत्सं जातमिवाध्न्याः।
(अथर्व० ३, ३०, १)

हे मनुष्यो! तुम परस्पर इस प्रकार से प्रेम करो जैसे नवजात बछड़े पर गौ प्रेम करती है।

—:०८०:—

पाठ 3

वेदों की शिक्षाएँ

(भाग 2)

५. समाज सम्बन्धी शिक्षाएँ

मनुष्य समाज प्रिय प्राणी है। कोई भी मनुष्य समाज के बिना उन्नति नहीं कर सकता। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे की सहायता करे तो समाज उन्नत हो सकता है।

समाज के प्रत्येक व्यक्ति से मित्रता का व्यवहार करना चाहिए।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

अर्थात्—हे परमेश्वर। मैं सभी को मित्र की आँख से देखूं।

समाज में कई व्यक्ति एक-दूसरे से द्वेष करने लग जाते हैं परमात्मा ने आज्ञा दी है।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।

जो मनुष्य समाज के सभी व्यक्तियों को अपने समान समझता है, वह द्वेष करना छोड़ देता है।

यदि कोई व्यक्ति पाप कर बैठता है, तो समाज का कर्त्तव्य है कि वह उसकी बुराइयों को दूर कर उसे उन्नत करे। वेद

भगवान ने इस विषय में आज्ञा दी है—

उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः।

(ऋग्वेद १०, १३७, १)

अर्थात्—हे विद्वान् ! यदि कोई पाप कर बैठा हो, तो तुम उसे जीवन प्रदान करो।

समाज में मूर्ख मनुष्य तथा ! विद्वान् दोनों प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। भगवान् ने सत्संग में बैठने की आज्ञा दी है।

देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम्।

(ऋग्वेद १, ८९, २)

अर्थात्—हे परमात्मन् ! हम विद्वान् पुरुषों की संगति में बैठे मूर्खों की नहीं।

समाज में यदि एकता के भाव बढ़ेंगे तो समाज उन्नति करेगा। वेद ने समाज के व्यक्तियों को आज्ञा दी है—

सं वां भागसो अग्मत चितानी समु व्रता।

(अथर्व० १०, १३७, २१)

अर्थात्—हे मनुष्यो ! तुम मिलकर संसार के धनों को प्राप्त करो। तुम्हारे हृदयों में एकता हो। तुम्हारे कार्य एक हों।

यदि हमारे हृदयों में समाज के अन्य व्यक्तियों के प्रति दुर्भावनाएँ न होंगी, तो अन्य व्यक्ति भी हमें घृणा की दृष्टि से न देखेंगे। घृणा ही घृणा की जननी है, अतः वेद भगवान् ने कहा है—

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि।

(अथर्व० ३, ८, ६)

अर्थात्—मैं अपने मन को ऐसा बनाता हूँ कि सबके मनों को आकर्षित करूं।

६. धन सम्बन्धी शिक्षाएं

कई साधु धन की निन्दा करते हैं; परन्तु वेद में धन की कहीं भी निन्दा नहीं की गई, प्रत्युत नाना प्रकार के धनों का स्वामी बनने की प्रार्थना वेद में मिलती है। गृहस्थ को समस्त आश्रमों में इसलिए उत्तम माना गया है कि गृहस्थी धन कमाते हैं, और समाज को उन्नत करते हैं। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी सभी उनसे सहायता प्राप्त करते हैं। गृहस्थी प्रार्थना करता है—

अश्वावती: सुनृतावती गोमती उच्छाय स्व महते सौभगाय।

अर्थात्—मेरा भवन घोड़ों वाला उत्तम वाणियों वाला तथा गौवों वाला हो और सौभाग्यशाली बने।

वयं स्याम पतयो रयीणाम्।

(ऋग्वेद १०, १२१, १०)

अर्थात्—हे प्रभो! कृपा करो कि हम अनेक प्रकार के धनों के स्वामी बनें।

सख्ये त इन्द्र! वाजियों मा भेम शवसस्पते।

अर्थात्—हे सम्पूर्ण धनों के स्वामी! तेरी मित्रता को प्राप्त हम भी धन दौलत के स्वामी बनें।

इस धन की प्राप्ति के लिए ऋग्वेद में प्रभु से प्रार्थना की गई है—

इन्द्र ऋतुम् न आभर पिता पुत्रभ्यो यथा।

(ऋ० स० ७, ३२, २६)

अर्थात्—हे धनों के स्वामी ! आप हमारे जीवन यज्ञ को धन-धान्य से पूर्ण कीजिए, जैसे कि पिता अपने पुत्री के जीवन यज्ञ को धन-धान्य से पूर्ण करता है—

वह धन कैसा हो ? इसका उत्तर वेद ने दिया है—

रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ।

(अथर्व० ३, २०, ८)

अर्थात्—हे परमात्मन् हमें धन-दौलत प्रदान करो, जो हमें वीर बनाये । वह धन हमें कायर न बनाये ।

उस धन का प्रयोग किस प्रकार किया जाये, इसका भी उत्तर वेद भगवान ने दिया है । धन समाज की उन्नति के लिए लगाया जाए—

तंजानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम्

(अथर्व० ३, २०, १)

अर्थात्—हे परमात्मन् ! हमारे धनों को बढ़ाओ ताकि हम सब समाज को उन्नत करें ।

इस धन को प्राप्त करने के लिए परिश्रम करो, नहीं तो तुम डाकू कहलाओगे । कई लोग बिना परिश्रम के दूसरों की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाते हैं । वेद ने उन्हें डाकू कहा है—

अकर्मा दस्युः (ऋग्वेद १०, २२, ८)

अर्थात्—जो पुरुष बिना परिश्रम के धन पाना चाहता है, वह डाकू है ।

जो लोग जुआ खेलकर धन का नाश कर देते हैं, अथवा बिना परिश्रम के धन प्राप्त करते हैं । वेद भगवान् उन्हें ऐसा न करने की आज्ञा देते हैं—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व ।

अर्थात्—हे मनुष्य, तू जुआ मत खेल। इससे खेती करना अच्छा है।

धन को बाँटकर उपयोग करने की आज्ञा भी वेद नें दी है—

केवलाधो भवति केवलादी।

अर्थात्—जो अपने कमाये धन को अकेला खाता है, वह पापी होता है।

दूसरों के कमाये धन का लालच मत करो, अपनी ही कमाई खाओ—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृधः, कस्यस्विद् धनम्।

७. प्राणी सम्बन्धी शिक्षाएं—

संसार में अनेकों प्राणी हैं। उनके प्रति हमारा कर्त्तव्य है? इसके विषय में अनेकों शिक्षाएँ मिलती हैं।

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरंचित् कृणुथा सुप्रतीकम्।

(ऋग्वेद ६, २८, ६)

अर्थात्—हे गौओ! आप दुर्बल शरीर को हृष्ट-पुष्ठ बनाती हो।

दूसरे स्थान पर कहा है—

गामनागामदितिं वधिष्ट। (अथर्व १, १६, ८)

हे मनुष्य! तुम इस हित करने वाली गौ को मत मारो। अन्यत्र कहा गया है—हे दुष्ट यदि तू गौ वध करेगा, यदि तू घोड़े को मारेगा तो मैं तुझे गोली से उड़ा दूंगा।

वेदों में चौपायों की रक्षा के लिए तथा कल्याण के लिए अनेकों प्रार्थनाएँ आती हैं—'शं नों अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे' जहाँ मेरे समाज के मनुष्यों का कल्याण हो, यहाँ मेरे चौपायों का भी कल्याण हो, वेद में प्रार्थना की गई है—'आशुः सप्ति', मेरे घोड़े शीघ्रगामी हों।

(क) माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। (अथर्व १२, ११, १२)

अर्थात्—भूमि मेरी माता है मैं उसका पुत्र हूँ।

(ख) सत्यं बृहत् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। (अथर्व० ११, १२)

अर्थात्—पाँच तत्त्व पृथ्वी को धारण करते हैं (१) तीव्र सत्य, (२) उत्तम ज्ञान, (३) उत्तम तथा पवित्र प्रतिज्ञा, (४) धर्म के लिए कष्टों को सहन करना, (५) भगवान् की भक्ति।

(ग) सदा उत्तम कर्म करते रहना।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

(यजु० ४०, २)

अर्थात्—मनुष्य कर्म करता हुआ, सौ वर्ष पर्यन्त जीने की इच्छा करे।

(घ) परमात्मा सर्वव्यापक है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किं च जगत्यां जगत्।

(यजु० ४०, १)

अर्थात्—इस जगत् के कण-कण में परमात्मा का निवास है।

(ङ) जीव पुनर्जन्म लेता है।

मनमनः पुनरायुर्मऽआगन् पुनः प्राण पुनरात्मा मऽआगन्।

(यजु० ४, १५)

अर्थात्—हे परमात्मा! इस जीवन के पश्चात् फिर मुझे पवित्र मन, आयु, प्राण तथा बुद्धि प्राप्त हो।

(च) परमात्मा निराकार तथा अजन्मा है

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्। (यजु० ४०, ८)

यह परमपिता महान् शक्तिशाली निराकार है। वह समस्त संसार में व्याप्त है।

पाठ 4

महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र

भाग 1

आपने अपने विद्यालय में घरों में, आर्य समाज के मन्दिरों में तथा अन्य अनेक स्थानों पर महर्षि दयानन्द जी का चित्र देखा होगा। घरों में अपने तथा अपने सम्बन्धियों का चित्र प्रत्येक मनुष्य रखता ही है परन्तु दूसरे चित्र उन्हीं के लगाये जाते हैं, जिन्होंने धर्म, जाति या देश के लिए कोई महान् काम किया हो। महर्षि दयानन्द के चित्र से भी हम अपने-अपने घरों आदि को इसलिए सुशोभित करते हैं कि उन्होंने जीवन भर वैदिक धर्म, आर्य जाति तथा सारे संसार की सेवा की। ऐसे परोपकारी विद्वान् महापुरुष के जीवन से परिचित होना तथा उससे शिक्षा ग्रहण करना हमारा कर्त्तव्य है। इसलिए हम उनके जीवन की मुख्य घटनाओं का वर्णन कर रहे हैं।

वंश तथा जन्म

भारत के पश्चिमी भाग में सौराष्ट्र (काठियावाड़) प्रान्त में मौरवी नाम का राज्य है। उसी राज्य के टंकारा गाँव में सन् १८२४ ई० में पण्डित कर्सन जी तहसीलदार के घर एक शिशु का जन्म हुआ। माता-पिता ने उस बच्चे का नाम मूलशंकर रखा।

शिक्षा

आरम्भ में मूलशंकर को घर में ही थोड़ी-बहुत शिक्षा दी

गई। जब उसकी आयु आठ वर्ष की हुई तब उसका यज्ञोपवीत संस्कार किया गया। पुरोहित को बुलाया गया सगे-सम्बन्धियों को निमन्त्रित किया गया। वेद-मन्त्रों से श्रद्धापूर्वक हवन-यज्ञ किया गया और मूलशंकर के कण्ठ में यज्ञोपवीत डाला गया। उस समय वहाँ पर उपस्थित लोगों ने मूलशंकर को धर्मात्मा, यशस्वी और विद्वान्, होने का आशीर्वाद दिया। उसी प्रकार बालक मूलशंकर बड़ा होकर धर्मात्मा, यशस्वी और विद्वान् बना। हम सबको भी चाहिए की अपनी सेवा से बड़ों को प्रसन्न करके आशीर्वाद पाया करें। बड़ों के आशीर्वाद से बल मिलता है और हमारा जीवन उनके आशीषों के अनुसार बनता जाता है।

यज्ञोपवीत संस्कार के बाद मूलशंकर को गायत्री मन्त्र तथा सन्ध्या सिखाई। मूलशंकर ने कुछ ही दिनों में उन्हें कण्ठस्थ कर लिया। यही नहीं, उसने दोनों के अर्थ भी याद कर लिए। अर्थ समझे बिना किसी पाठ को पढ़ने-पढ़ाने का कोई विशेष लाभ नहीं होता। इसलिए बालक मूलशंकर जब दोनों समय सन्ध्या और गायत्री का जप करता था तब उनके अर्थ भी मन में सोचता जाता था। संध्या करने से मनुष्य की आयु लम्बी होती है और गायत्री के जप से बुद्धि बढ़ती है। इसलिए सब आर्य लोग यज्ञोपवीत धारण करने के बाद प्रतिदिन संध्या गायत्री जपते थे। गायत्री के जप से मूलशंकर की बुद्धि बड़ी तीव्र हो गई। वह सूक्ष्म बात शीघ्र ही समझ जाता था। जो कुछ स्मरण करना चाहता था उसे शीघ्र स्मरण हो जाता था। यही कारण था कि उसने १४ वर्ष की आयु तक संस्कृत व्याकरण भी पढ़ ली आप सुनकर आश्चर्य करेंगे कि उसने पूरा यजुर्वेद जिसमें १९७५ मन्त्र हैं, आदि अन्त तक शुद्ध-शुद्ध कण्ठस्थ कर लिया था।

मूलशंकर के माता-पिता शिवजी के भक्त थे और शिवरात्रि का व्रत श्रद्धापूर्वक रखते थे। जब मूलशंकर १४ वर्ष का हुआ तो पिता ने उसे भी व्रत रखने को कहा। मूलशंकर तो उद्यत हो गया परन्तु उसकी माता ने छोटा समझकर व्रत रखने का निषेध किया। जब पिता ने उसे शिव का व्रत रखने की महिमा सुनाई तो उसने उत्साहपूर्वक व्रत रख लिया। रात को सब लोग मन्दिर में गये, वे शिवजी की मूर्ति के सामने बैठकर भजन-कीर्तन करने लगे। आधी रात के लगभग सबको नींद ने आ घेरा। मूलशंकर को भी नींद आई तो सही परन्तु व्रत का पूरा फल मिलने की आशा में उसने रात भर जागने का निश्चय किया। मुंह पर पानी के छींटें देकर वह जागता रहा।

जब सब लोग सो गयें और वह अकेला जाग रहा था तब उसने एक विचित्र बात देखी। कुछ चूहे मन्दिर के बिलों से निकल कर मूर्ति पर नाचने लगे। जो मिठाई आदि मूर्ति पर चढ़ाई गई थी, उनको भी चट कर गये मूलशंकर सोच में पड़ गया कि क्या वह वही शिवजी है जिनको पिताजी सर्वशक्तिमान और संसार का पालक पोषक कहते हैं। उसने तुरन्त पिता को जगाया और अपनी शंका उनके सामने प्रकट की। कर्सन जी ने ऐसा प्रश्न पूछने के लिए उसे डांटा-डपटा और फिर सो गये मूलशंकर थोड़ी देर तो वहीं बैठा सोचता रहा; परन्तु फिर उठकर घर चला गया। मूर्ति-पूजा से उसकी श्रद्धा उठ गई। उसने समझ लिया कि यह सच्चा शिवजी नहीं है। सच्चे शिवजी कौन हैं,

---

उद्यत—तैयार, निषेध—मना।

कहाँ है ? इस बात की खोज करनी चाहिए। घर में जाकर उसने माता जी की अनुमति से व्रत तोड़कर खाना खाया और सो गया प्रातःकाल जब पिता को पता लगा कि मूलशंकर ने व्रत तोड़ दिया है तो वे उस पर क्रुद्ध हुए, परन्तु मूलशंकर ने चुपचाप सब कुछ सुन लिया।

बहिन का स्वर्गवास

इस घटना के पश्चात् मूलशंकर ने अपना मन पढ़ाई-लिखाई में विशेष रूप से लगा दिया। लगभग दो वर्ष बाद एक रात वह अपने सम्बन्धियों के साथ किसी मित्र के घर में कोई खेल-तमाशा देखने गया हुआ था। वहीं उसे विदित हुआ कि बहिन को हैजा हो गया है। वे सब लोग तुरन्त घर लौटे। वैद्यों ने पूरे परिश्रम से उपचार किया परन्तु बेचारी बच्ची न बच सकी। मूलशकर ने अपनी आँखों से जीवन में यह पहली मृत्यु देखी थी। वह चकित हो गया। जिस बहिन को चार-छः घण्टे पहले हसंता खेलता छोड़ गया था, वही झट संसार से उठ गई, घर के लोगों ने रोना धोना आरम्भ कर दिया, परन्तु वह चारपाई के पास दीवार से लगा हुआ चुपचाप मृत्यु के सम्बन्ध में विचारमग्न हो गया। उसकी आँखों से एक भी आँसू नहीं टपका।

चाचा की मृत्यु

मूलशंकर के विद्वान् चाचा उसे विद्या प्रेमी जानकर उससे बहुत प्रेम करते थे। बहिन की मृत्यु के तीन दिन पश्चात् मूल-शंकर के वही चचा बुरी तरह से बीमार हो गये। ऐसे कि

उपचार—इलाज।

बचने की आशा न रही। उन्होंने मूलशंकर को समीप बुलाया और प्रेम से बात-चीत करने लगे। प्यारे भतीजे और सम्बन्धियों से सदा के लिए बिछडते समय उनके नेत्रों से अश्रु प्रवाह होने लगा। मूलशंकर जी इस दुःखदायक दृश्य को देख न सका। उसकी आँखों से आँसुओं की नदी फूट पड़ी। देखते-देखते प्यारे चचा भी काल का ग्रास बन गये।

बहिन की मृत्यु से मूलशंकर को पहला धक्का लगा था, चचा की मृत्यु से दूसरा। वह सोचने लगा, यह क्या तमाशा है ? क्या सभी को एक न एक दिन मरना है ? क्या मैं भी ऐसे ही चल बसूंगा ? आखिर यह मृत्यु क्या बला है ? क्या मनुष्य इससे मुक्त नहीं हो सकता ? उसे वैराग्य होने लगा। अपने मिलने-जुलने वालो तथा अध्यापक से ऐसे ही प्रश्न पूछता रहता।

गृह त्याग

जब सम्बन्धियों को विदित हुआ कि मूलशंकर के विचार तो दूसरी दिशा में जा रहे हैं, तब उन्हें, चिन्ता हुई। उनके विचारों को बदलने के लिए उन्होंने उसका विवाह करने का निश्चय किया। जब मूलशंकर को ज्ञात हुआ कि ये मुझे बिवाह के बन्धन में बांधने की सोच रहे हैं तब उसने गुरु जी से पिताजी को कहलवाया कि मूलशंकर अभी उच्च शिक्षा पाने काशी जाना चाहता है। परन्तु घर के लोग न मानें और विवाह की बात पक्की करने लगे।

मूलशंकर ऊंचे विचारों का युवक था। उसे सच्चे शिव के पाने और मृत्यु से बचने के उपायों की खोज की लगन लग चुकी

१. गृहत्याग—घर का छोड़ना।

थी। उसने सोचा विवाह हो गया तो यह उद्देश्य पूरे न होंगे। इसलिए उसने घर से निकल जाने की ठानी और एक दिन चुपके से चल पड़ा। उन दिनों उसकी आयु २१ वर्ष की थी।

घर वालों ने इधर-उधर बहुत ढ़ूढा। परन्तु अन्त में निराश होकर बैठ गये। मूलशंकर ने सामने गाँव के एक ब्रह्मचारी की प्रेरणा से अपना नाम 'शुद्ध चेतन' ब्रह्मचारी रख लिया। इसी बीच उसकी भेंट अपने गाँव के एक बैरागी से हो गई। उसने जाकर कर्संन जी को बता दिया कि मूलशंकर ब्रह्मचारी वेष में सिद्धपुर के मेले में जायेगा। पुत्र का पता पाकर माता-पिता प्रसन्न हुए। कर्संन जी ने सिद्धपुर के मेले में पुत्र को जा पकड़ा और घर से भागने के कारण बहुत डाँटा-फटकारा। मूलशंकर सिर झुकाकर सब कुछ सुनता रहा। कर्संन जी को कोई आवश्यक राजकीय कार्य था। इसलिए पुत्र को सिपाहियों की देख-रेख में छोड़ वे लौट गए। एक रात जब सिपाही गहरी निद्रा में सो गया तब शुद्ध चेतन फिर भाग निकला। इस बार वह ऐसा भागा कि जीवन भर अपने सम्बन्धियों को न मिला।

माता-पिता का कहना न मानना तथा घर से भागना कोई अच्छी बात नहीं है। परन्तु जिन नवयुवकों के हृदय में जीवन भर ब्रह्मचारी रहकर धर्म, जाति, देश व संसार की सेवा करने की अत्यन्त प्रबल इच्छा हो, उन्हें माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना पड़े तो भी कोई पाप नहीं। कारण, वे जीवन भर के कार्यों से इतने पुण्य कमा लेते हैं कि उनके साधारण पाप दब जाते हैं।

१. शुद्ध चेतन—पवित्र और ज्ञानी

२. राजकीय— सरकारी

गुरुओं और योगियों की खोज

हमारे देश में यह कहावत प्रसिद्ध है—"गुरु बिना गत नहीं। इसका भाव यह है कि जब तक मनुष्य को कोई सच्चा गुरु नहीं मिलता, तब तक मनुष्य को पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त होता। इसलिए स्वामी दयानन्द भी घर से निकलकर पन्द्रह वर्ष तक सच्चे योगियों और गुरुओं को खोजते रहे। उन्होंने अहमदाबाद, बड़ौदा, आबू, चाणोद आदि नगरों तथा नर्मदा और हिमालय के पर्वतों में वर्षों तक खोज की। इस खोज में जगलों, पर्वतों तथा बर्फीली नदियों में उनके प्राण कई बार संकट में पड़ गये, परन्तु वे उद्देश्य से नहीं हटे। उन्होंने अनेक गुरुओं से संस्कृत के अनेक ग्रंथ पढ़े तथा अनेक योगियों से योग की अनेक क्रियाएँ सीखीं। उन्होंने अपने जीवन चरित्र में स्वामी योगानन्द, स्वामी ज्वालानन्द तथा स्वामी शिवानन्द के विषय में लिखा है—इन महात्मा-योगियों की कृपा से मुझे योग विद्या और इसकी साधन क्रिया भली प्रकार विदित हो गई। इसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

विद्या की लग्न और संन्यास धारण

जिन दिनों मूलशंकर ने शुद्ध चेतन ब्रह्मचारी का रूप धारण किया हुआ था उन दिनों वे कम से कम समय में अधिक से अधिक विद्या प्राप्त करने का यत्न करते थे। पर्वतीय प्रान्तों में ब्रह्मचारियों को कच्चा अनाज दिया जाता था और संन्यासियों को पका-पकाया भोजन, शुद्ध चेतन का बहुत-सा समय भोजन पकाने में नष्ट हो जाता था। इसलिए उसने समय बचाने के उद्देश्य से संन्यासी बनने का निर्णय किया।

उसकी छोटी आयु देख के अनेक संन्यासियों ने उन्हें संन्यास

देने से इन्कार कर दिया। अन्त में उनकी सच्ची लग्न से प्रभावित होकर स्वामी पूर्णानन्द जी नें उन्हें संन्यास दिया, तब वे स्वामी दयानन्द बन गये।

गुरु विरजानन्द के चरणों में

स्वामी दयानन्द की आयु अब ३६ वर्ष की हो गई थी, परन्तु ज्ञान की प्यास अभी तक शांत नहीं हुई थी। एक बार वे नर्मदा के तीर पर घूम रहे थे तो किसी ने उन्हें बताया कि मथुरा में स्वामी विरजानन्द अष्टाध्यायी, महाभाष्य और वेदों के अनुपम विद्वान् हैं। स्वामी दयानन्द जी ने मथुरा जाकर उनकी कुटीया का द्वार खटखटाया। स्वामी विरजानन्द जी ने उन्हें होनहार जानकर पढ़ाना स्वीकार कर लिया; परन्तु उन्होंने स्पष्ट बता दिया कि हमारे यहां तुम्हारे खाने-पीने का कोई प्रबन्ध नहीं हो सकेगा।

स्वामी दयानन्द को बढ़िया खाने-पीने की कोई लग्न न थी। बस पेट भरता जाए और विद्या मिलती रहे, इसी में वे प्रसन्न थे। मथुरा के श्री दुर्गादास खत्री के घर से उन्हें सूखे चनें मिल जाया करते थे। उन्हीं से वे अपनी भूख शांत कर लिया करते थे। उनकी विद्या की लग्न से प्रसन्न होकर बाबा अमर लाल जोशी नें उनके भोजन का प्रबन्ध कर दिया, श्री हरदेव पत्थर वाले उन्हें दो रुपये मासिक दूध के देने लगे। श्री गोवर्धनलाल सर्राफ उन्हें चार आने मासिक तेल के लिए दिया करते थे कि

स्वामी जी रात को दिये के प्रकाश में भी पढ़ लिया करें। जिस कोठरी में वे सोया करते थे, उसमें उनकी टांगे भी पूरी तरह न फैल सकती थीं, स्वामी दयानन्द ने ये सब कष्ट प्रसन्नता से सह लिए, परन्तु पड़ने में कोई विघ्न न पढ़ने दिया। विद्यार्थी का यही महान् तप है।

गुरु दक्षिणा

विद्यार्थी का जीवन सुख भोगने का जीवन नहीं है। तपस्या का जीवन है। स्वामी दयानन्द ने स्वामी विरजानन्द के पास तीन वर्ष तक रहकर बड़ी सेवा तथा कड़ी तपस्या की। जो ज्ञान उन्हें पन्द्रह वर्ष में भी न प्राप्त हुआ था, वह तप और सच्चे गुरु की कृपा से तीन वर्ष में प्राप्त हो गया।

प्राचीन काल से रीति चली आयी है कि विद्या की समाप्ति पर शिष्य गुरु को श्रद्धापूर्वक कुछ गुरु-दक्षिणा दिया करते हैं। स्वामी जी तो सन्यासी थे। स्वयं मांग कर खाते थे। गुरु को क्या देते स्वामी विरजानन्द जी लौंग चबाया करते थे। इसलिए स्वामी दयानन्द उनके लिए किसी से कुछ लौंग ही मांग लाये और उनके चरणों में श्रद्धापूर्वक रख कर बोले—"गुरुवर, दयानन्द की यह तुच्छ गुरु-दक्षिणा स्वीकार कीजिए।"

यह सुनकर विरजानन्द जी बोले—"दयानन्द मैं तुम्हारी दक्षिणा स्वीकार नहीं करता। तुम से कुछ और ही दक्षिणा चाहता हूं।"

दयानन्द का हृदय धक्-धक् करने लगा। उन्होंने सोचा न जाने क्या मांगेगे। मेरे पास धन-धान्य, सोना-चांदी कुछ भी नहीं, बोले—"महाराज मेरे पास जो कुछ था, ले आया और कुछ भी लाने में असमर्थ हूं।"

विरजानन्द ने कहा—मैं वही वस्तु मांगूंगा जिसे देना तुम्हारे वश में है। कहो दोगे ?

दयानन्द ने कहा—"भगवान् यदि ऐसी बात है तो मैं पीछे न रहूंगा।"

तब स्वामी विरजानन्द ने कहा—"बेटा दयानन्द ! संसार वेदों के ज्ञान को भूल कर अंधविश्वासों और वेद विरुद्ध रीति रिवाज में फंस कर ठोकरें खा रहा है ! मैं तुमसे यही चाहता हूं कि वेदों के सूर्य से अज्ञान और पाखंड के अंधेरे को दूर कर दो। बोलो, करोगे ?"

उन्होंने सिर झुकाकर कहा—"गुरुवर क्यों नहीं। मैं जीवन भर आपकी आज्ञा का पालन करता रहूंगा।"

धन्य थे स्वामी विरजानन्द ! धन्य थे स्वामी दयानन्द ! गुरु और शिष्य एक दूसरे को पाकर कृतार्थ हो गये। विरजानन्द की अभिलाषा दयानन्द ने पूरी की, अनेक शताब्दियों के बाद वेदों के प्रकाश से अंधकार दूर हो गया।

—:o:—

पाठ 5

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध प्राचीन भारत में

१. विद्या की महिमा

संसार में जब किसी बालक का जन्म होता है, तो उसे किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता। उसे खाने-पीने की जब इच्छा होती है तब वह चिल्ला कर अपनी इच्छा को प्रकट करता है। उसके माता पिता उसे अन्न जल प्रदान कर उसका पालन-पोषण करते हैं। इसे स्वाभाविक ज्ञान कहते हैं। इसके अतिरिक्त एक दूसरा ज्ञान है जिसे नैमेत्तिक ज्ञान कहते हैं। ज्ञान माता-पिता, आचार्य और समाज से प्राप्त होता है। माता-पिता उसे बोलना सिखलाते हैं इससे उसको मातृ भाषा का ज्ञान होता है। बात करा, छोटे-बड़ों से यथोचित व्यवहार तथा साधारण-रूप से रहन-सहन के ढग को बच्चा धीरे-धीरे सीखने लगता है। इस प्रकार के अनेकों ज्ञान धीरे-धीरे प्राप्त होने लगते हैं, परन्तु विशेष ज्ञान उसे गुरुओं तथा आचार्यों से ही प्राप्त होता है। इसे शिक्षा तथा विद्या कहा जाता है।

जिस बालक के माता-पिता और गुरु योग्य हों, वह संसार में अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं करता है। जो बालक गुरु के पास जाकर विद्या प्राप्त नहीं करता वह पशु के समान माना गया है—"विद्या विहीनाः पशुभि समानाः।" अर्थात् विद्या से रहित पुरुष पशु के तुल्य होता है। संसार में अनेक

प्रकार के धन हैं परन्तु विद्या का धन सब धनों में प्रधान मानां गया है। जैसे कि विद्वान् ने लिखा है—

न चोर हार्यं, न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारी।
व्यये कृते वर्धते एव नित्य विद्या धन सर्वं प्रधानमेव॥

अर्थात्—विद्या का धन तमाम धनों से उत्तम है, क्योंकि इस धन को चोर चुरा नहीं सकता, राजा इसे छीन नहीं सकता, भाई इसे बाँट नहीं सकते, अन्य धनों के समान यह बोझल भी नहीं।

२. गुरु

गुरु वह पुरुष कहलाता है जो विद्वान् तथा सदाचारी हो। जो अपनें शिष्य का हित-चिन्तक हो, जो अपनें शिष्य को विद्या प्रदान कर उसे योग्य बना दे।

३. शिष्य

शिष्य वह है जिसके हृदय में शिक्षा प्राप्त करने की पूर्ण इच्छा हो। जो कष्टों को सहन करके भी विद्या पढ़े। गुरु के प्रति श्रद्धा हो गुरु का हृदय से सम्मान करे। उसकी उचित आज्ञाओं का पालन करनें के लिए कटिबद्ध रहे। उसमें आलस्य लेशमात्र भी न हो। अपनी शिक्षा के कार्य को मन से करे। इस प्रकार के गुरु शिष्य जिस समाज में हो, वह समाज सदा उन्नति करता है।

४. आदर्श गुरु के शिष्य

जिस देश में ऐसे गुरु-शिष्यों का अभाव हो जाता है, वह देश अवश्य ही दुःखी; दीन, दरिद्र तथा परतन्त्र हो जाता है। इससे

स्पष्ट हुआ कि देश जाति की उन्नति आदर्श गुरुओं तथा आदर्श शिष्यों पर ही निर्भर है। प्राचीन भारत की धाक समस्त भूमण्डल पर छाई हुई थी। इस का कारण था कि भारत के गुरु-शिष्य समस्त संसार में उत्तम तथा सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। इसी को लक्ष्य रख कर महर्षि मनु महाराज ने कहा—

स्वं स्व चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

अर्थात्—समस्त भूमण्डल के लोग इस भारत में उत्पन्न हुए गुरु के समस्त विद्याओं को सीखें।

इस प्रकार के अनेकों गुरु-शिष्यों ने जन्म लेकर भारत भूमि का मुख उजला किया।

(क) अर्जुन को जब कायरता ने घर दबाया और उसने कहा :—

शिष्यस्तेऽहं शाधिमात्वां प्रपन्नम्।

अर्थात्—हे महाराज कृष्ण! मैं आपका शिष्य हूं, आपकी शरण आया हूं। आप मुझे शिक्षा दीजिए। तब श्रीकृष्ण ने उस को कायरता का अन्धकार गीता शास्त्र द्वारा दूर किया।

(ख) आरुणी, गुरु का महान् सेवक था। गुरु कृपा से वह समस्त विद्याओं का भण्डार बन गया।

(ग) स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस के नाम को चार चांद लगा दिये।

(घ) समर्थ गुरु रामदास ने अपने शिष्य शिवाजी को मराठा सरदार बना कर देश को पापियों के अत्याचारों से बचाया।

(ङ) स्वामी दयानन्द जी महाराज विरजानन्द के शिष्य थे। उन्हें गुरु से केवल तीन वर्षों में ही वेद तथा वेदांगों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया। वे दयानन्द बन गये।

(च) कूट-नीतिज्ञ चाणक्य ने अपने शिष्य चन्द्रगुप्त को भारत का सम्राट बना दिया।

परन्तु वर्तमान समय में इस प्रकार के गुरु शिष्यों का अभाव है। यदि वैसी प्राचीन प्रणाली पुनर्जीवित हो जाए तो हमारा देश पुनः जगद्गुरु बन सकता है। उन दिनों गुरु-शिष्यों की सम्मिलित प्रार्थना हुआ करती थी।

५. गुरु शिष्य को दैनिक प्रतिज्ञा

ओ३म् सहनाववतु, सह नो भुवक्तु सहवीय करवा वहै तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्विषा वहै। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥
(श्वेताश्वतर उपनिषद्)

अर्थात्—परमपिता परमात्मा, हम दोनों अर्थात् गुरु और शिष्य की साथ-साथ रक्षा करे, हम दोनों का साथ-साथ पालन करे, हम दोनों विद्या पढ़ने-पढ़ाने में वीर तथा उत्साही हों हम दोनों का पढ़ा-पढ़ाया हुआ तेजस्वी हो। हम कभी भी एक दूसरे से द्वेष न करें। हम तीनों प्रकार की अध्यात्मित आधिभौतिक, आधिवैदिक शान्ति प्राप्त करें।

आध्यात्मिक शान्ति का अर्थ है—ईर्ष्या, द्वेष तथा काम, क्रोध, लोभ आदि आत्मिक विचारों के चगुंल में न फँसना, आधिभौतिक शान्ति का अर्थ है—दुष्ट प्राणो, बिच्छु, सर्प आदि हिंस्र जन्तु तथा अन्य दुःखदायी जीवों से बचना। आधिदेविक का अर्थ है—देवी शक्तियों का प्रकोप अर्थात् आतिवृष्टि आदि उत्पातों से हम सुरक्षित रहें।

६. गुरु और शिष्य का सम्बन्ध

उपनिषदों तथा गृह्यसूत्रों के अध्ययन से विदित होता है कि प्राचीन काल के गुरु-शिष्यों का सम्बन्ध पिता-पुत्र के समान होता था। गुरु-जन केवल विद्या के भण्डार ही नहीं होते थे, अपितु प्रेम दया और सहानुभूति के भी समुद्र होते थे। गुरुपत्नी को शिष्य अपनी माता ही समझता था। गुरु तथा गुरुपत्नी दोनों शिष्य के स्वास्थ्य का पूरा-पूरा ध्यान रखकर उनके हृदय और मस्तिष्क को विकसित करते थे। बालक उनकी देख-रेख में बलवान, हृदयवान तथा मस्तिष्कशाली बन जाते थे।

वेदों में गुरु के लिए आज्ञा दी गई है—

मूर्धानमस्य संसीव्याः अथवा हृदयं च यत्। (अथर्ववेद)

अर्थात्—हे अचल विचारशील गुरु! तू अपने शिष्य के शरीर, हृदय और मस्तिष्क को सी दे। अर्थात् इस तेरे शिष्य के शरीर हृदय और मस्तिष्क के साथ-साथ उन्नति को प्राप्त करें। इनमें न्यूनाधिकता न हो।

वे शिष्य लगभग २०-२५ वर्ष की आयु तक गुरुकुल में निवास करके विद्या प्राप्त करते थे। विद्या प्राप्ति के पश्चात् वे पूर्ण हृष्ट-पुष्ट, सदाचारी तथा प्रकाण्ड विद्वान बनकर समाज में पदार्पण करते थे। ऐसे ब्रह्मचारी के विषय में वेद ने लिखा है :—

इन्द्रेण दत्तः वरुणेन शिष्टः मरुद्भिः प्रहितः।

अर्थात्—यह वह ब्रह्मचारी है जिसमें इन्द्र की शक्तियां हैं; उत्तम शासक का यह शिष्य है, उत्साहशील, उन्नतिशील गुरु ने इसमें सभी गुण भर दिए हैं।

७. शिष्य की पात्रता

गुरु के लिए वेद ने आज्ञा प्रदान की है—

यमेव विद्या शुचिप्रपतं ।
मेघाविनं ब्रह्मचर्योपि पन्नं ।।

अर्थात्—हे गुरुवर ! जिस शिष्य में ये गुण हों उसे विद्या पढ़ाओ। जो मन वाणी से पवित्र हो, जो विद्या ग्रहण करने में सावधान रहे, जिसमें मेघा शक्ति हो, जो सदाचारी और ब्रह्मचारी हो।

प्रश्नोपनिषद् में कथा आती है कि सुकेशा, सत्य काम, सौर्वामणि, कौशल्य, भार्गव तथा कबन्धी नामक जिज्ञासु व्यक्ति हाथ में समिधाएँ लेकर पिप्लाद ऋषि के पास विद्या प्राप्ति के लिए गये, तब ऋषि ने कहा—

तान् ह स ऋषिरुवाच— भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं, संवत्स्यथ, यथामाम प्रश्नान् पृच्छथ यदि विज्ञास्यामः सर्वं वो वक्ष्यामः । (प्रश्नोपनिषद् १, २)

अर्थात्—पिप्लाद ऋषि ने उनसे कहा—तुम तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त होकर, एक वर्ष पर्यन्त यहाँ निवास करो। इसके पश्चात् अपनी इच्छा के अनुसार प्रश्न पूछ लेना, यदि मुझे प्रश्नों के उत्तर आते होंगे, तो मैं तुम्हें बतला दूंगा।

इससे प्रतीत होता है कि पिप्लाद ऋषि ने उन व्यक्तियों में तप, श्रद्धा की न्यूनता देखी थी, इसलिए उन्हें अपने आश्रम में न्यूनता को पूर्ण करने का आदेश दिया। वस्तुतः विद्या प्राप्ति के तीन ही साधन हैं—तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा। तप का अर्थ है—गर्मी, सर्दी, सुख-दुख, भूख-प्यास को सहर्ष सहन कर विद्या ग्रहण करते रहना। ब्रह्मचर्य का अर्थ है वीर्य की रक्षा करना। तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना। श्रद्धा का तात्पर्य है गुरु की सेवा और उसके प्रति आदर की भावना। जिस शिष्य में ये तीनों

गुण होते हैं, वह गुरु की कृपा से उत्तम विद्वान् बन जाता है। उपनिषद् में गुरु भक्ति को ईश्वर भक्ति के समान माना है।

यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथितः ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(श्वेताश्वतर ६, २३)

अर्थात्—जो व्यक्ति जैसे ईश्वर की भक्ति करता है, वैसे ही गुरु की भक्ति करता है, उसको विद्या के गूढ़ रहस्य समझ में आ जाते हैं। दूसरे को नहीं।

८ यज्ञोपवीत तथा शिष्य

जिस समय बालक को यज्ञोपवीत दिया जाता था, उस समय गुरु पूछता था कि 'कस्य ब्रह्मचारी असि' अर्थात् तू किसका ब्रह्मचारी है ? शिष्य उत्तर देता था—'भवतः— आपका। उस समय गुरु अपना शिष्य बनाने से पूर्व अपने ऊपर एक मयान् उत्तरदायित्व समझकर कहता था—

इन्द्रस्य ब्रह्मचारी असि अग्निः आचार्यस्तव असौ।
(पारस्कर गृह्यसूत्र)

बेटा ! सबसे पहले धन-धान्य के दाता ज्ञान स्वरुप परमात्मा का ब्रह्मचारी है। इसके पश्चात् तू मेरा ब्रह्मचारी है; क्योंकि जिन विद्याओं को तू सीखेगा, उन सभी विद्याओं का प्रदाता परमपिता परमेश्वर ही है।

९. गुरु-शिष्य की एकता

गुरु के पास जब शिष्य आता था, तो गुरु उपस्थित शिष्य की अंजलि में जल से भरकर अपनी अंजलि में जल लेता था।

इसके पश्चात् अपनी अंजली का जल उसकी अंजलि में डालकर प्रकट करता था कि जिस प्रकार दोनों अंजलियों के जल एक रूप हो गए हैं, इसी प्रकार तुम्हारी और मेरी ईश्वर की कृपा से एकता बनी रहे। यद्यपि तुम किसी अन्य माता-पिता के पुत्र हो, तथापि अब इस गुरुकुल में तुम्हारा पिता मैं हूं। मेरी पत्नी तुम्हारी माता है। इस गुरुकुल के विद्यार्थी तुम्हारे भाई हैं।

पुन: उसके कन्धे पर हाथ रखकर गुरु कहते थे—

मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चितम् अनुचितम् ते अस्तु।
मम वाचनेकमना जुषस्व, बृहस्पति नियुनक्तु मह्यम्।

अर्थात्—परमात्मा की कृपा से तुम्हारा हृदय मेरे विचारों के अनुकूल हो। तुम्हारे चित में बुरे विचार न आवें।

१०. दीक्षान्त समारोह

अध्ययन समाप्ति पर जब शिष्य अपने घर लौटने लगता था, तब गुरु दीक्षान्त भाषण देते हुए कहता था —

सत्य बोल। धर्म पर आचरण कर। स्वाध्याय करने में प्रमाद न कर। आचार्य के लिए अभीष्ट धन लगाकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर। सत्य में प्रमाद नहीं करना चाहिए। धर्म में प्रमाद नहीं करना चाहिए। अपनी रक्षा के कार्यों में प्रमाद नहीं करना चाहिए। धन सम्पति लाने वाले शुभ कार्यों में प्रमाद नहीं करना चाहिए। स्वाध्याय करने और उपदेश देने मे प्रमाद नहीं करना चाहिए। देव-कार्यों में और पितृ-कार्यों में प्रमाद नहीं करना चाहिए। तू माता, पिता आचार्य तथा अतिथि को देवता समझ। प्रशंसनीय कार्य ही करने

चाहिए, निन्दनीय नहीं । हमारे जो भले कर्म हैं उन्हीं का सेवन कर बुरे कर्मों का नहीं । हमारे जो भले आचरण हैं, उन्हीं का सेवन कर दूसरों का नहीं । जो कोई हमारी अपेक्षा श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं आसन आदि देकर उनका श्रम दूर करना चाहिए । श्रद्धा से देना चाहिए । अश्रद्धा से भी देना चाहिए । अपनी सम्पति के अनुसार देना चाहिए । लज्जा से देना चाहिए । भय से देना चाहिए । मित्रता आदि के लिए देना चाहिए । यदि तुझे कर्म वा आचरण के विषय में कोई संशय हो, तो वहां जो विचारशील, कर्म में लगे-रहने वाले, सरल चित्त और धर्म के अभिलाषी ब्राह्मण हों, उस विषय में जैसा व्यवहार करें, वैसा हो तू भी कर । यही आज्ञा है । यही उपदेश है यही वेद का रहस्य है और यही वेद की आज्ञा है । ऐसा ही तुझे करना चाहिए । इसी प्रकार यह उपदेश तुझे आचरण में लाना चाहिए ।

(तैत्तिरीयोपनिषद् प्रपाठक ७, अनु० ११)

११. आभार प्रदर्शन

तब घर जाने से पूर्व स्नातक निम्नलिखित शब्दों में अपनी कृतज्ञता प्रकट करता था ।

अर्थात्—आप तो हमारे पिता हैं जिन्होंने हमें अज्ञान के दूसरे पार पहुंचा दिया है । आप परम ऋषि को हमारा नमस्कार हो, बार-बार नमस्कार हो । (प्रश्नोपनिषद् ६, ७)

यह है प्राचीन भारत के गुरु-शिष्यों के गुणों तथा आचरणों की छोटी-सी एक झाँकी । प्रभु इस देश पर कृपा करें कि यहाँ पुनः वैसे ही योग्य शिष्य, हितकारी तथा सदाचारी गुरु और

---

१. अभीष्ट—मनचाहा

वैसे ही तपस्वी ब्रह्मचारी तथा श्रद्धालु शिष्य हों, जैसे प्राचीन भारत में थे। जब दोनों इन गुणों से युक्त होंगे तब सभी विद्यार्थी सभी परीक्षाओं में सफल हुआ करेंगे, तथा अल्प समय में अधिक से अधिक विद्या ग्रहण कर सदाचारी, स्वस्थ, विद्वान्, दीर्घायु तथा धन-धान्य से सम्पन्न होंगे। ऐसा होने पर भारत उसी यश को पुनः प्राप्त करेगा जिसका भागी वह पूर्व काल में था।

कृतज्ञता—उपकार मानने का भाव।

—●—

पाठ 6

डी० ए० वी० संस्थाएं

स्वामी दयानन्द स्मारक

स्वामी दयानन्द सरस्वती का अजमेर में ३१ अक्तूबर, १८८३ को दीपावली के दिन स्वर्गवास हुआ। आर्य समाज लाहौर के भी कई सभासद वहां उनके पास उपस्थित थे उन्होंने अजमेर से लौटकर लाहौर के आर्यों को स्वामी जी के अन्तिम समय का वृतान्त सुनाया, जिसे सुन कर सबके हृदय शोक से भर गये; परन्तु कुछ क्षणों के पश्चात् वह शोक उत्साह में बदल गया। आर्य जनता नें सोचा कि स्वामी जी नें जीवन भर देश, जाति और वैदिक धर्म की भारी सेवा की है इसलिए उनके हम आभारी तथा ऋणी हैं। इस आभार को चुकाने के लिए उनका कोई शानदार स्मारक स्थापित किया जाना चाहिए।

प्रचलित परम्परा तो वह थी कि उनकी कोई विशाल मूर्ति स्थापित की जाए अथवा कोई समाधी बनाई जाए; परन्तु यह धारणा आर्य पुरुषों को अच्छी न जँची; क्योंकि स्वामी दयानन्द का सारा समय तथा सारा जीवन मूर्ति पूजा के खण्डन में व्यतीत हुआ था, अतः आर्यों नें शिक्षा संस्था की स्थापना का निश्चय किया।

उस समय आर्य नेताओं में ला० लालचन्द, ला० सांईदास ला० लाजपतराय, पं० गुरुदत्त आदि प्रसिद्ध तथा लग्न वाले

व्यक्ति थे, अतः चारों ओर दृष्टि डालकर सोचा, तो उन्होंने निश्चय किया शिक्षा कार्य को ही अपनाया जाए।

शिक्षा की दिशा

उस समय केवल सरकारी तथा ईसाई शिक्षण संस्थाएँ थीं। जो युवक उन संस्थाओं में पढ़कर निकलते थे, उनके हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति घृणा के भाव जागृत हो जाते थे। देश-प्रेम तथा धर्म-प्रेम से सर्वथा कोरे होते थे। वे अपने को अलग वर्ग का समझते थे और सर्व-साधारण जनता के साथ मिलने-जुलने से संकोच करते थे। उन संस्थाओं में राष्ट्र-भाषा, देश-भक्ति की शिक्षा का सर्वथा अभाव था। उस समय आर्य बन्धुओं ने निश्चय किया कि ऐसी शिक्षा संस्था खोली जाये, जिसमें पूर्व और पश्चिम की भाषाओं को साथ-साथ पढ़ाया जाए, इसलिए स्वामी जी की स्मृति में डी० ए० वी० (श्रीमद्दयानन्द ऐंग्लो वैदिक विद्यालय) तथा कॉलेज खोलने का प्रशंसनीय निश्चय किया गया।

प्रबन्धकर्त्री सभा

इस पवित्र निश्चय को कार्य रूप में परिणित करने के लिए स्वामी जी के दिवंगत होने के दो वर्ष पश्चात् ही डी० ए० वी० कॉलेज प्रबन्धकर्ता सभा की स्थापना १८८५ ई० को लाहौर में की गई।

सभा के उद्देश्य

१. हिन्दी भाषा तथा उसके अध्यापन का प्रबन्ध।
२. वैदिक संस्कृति और भाषा के अध्यापन की व्यवस्था।
३. अंग्रेजी भाषा व विज्ञान की शिक्षा का पूर्ण प्रबन्ध।

४. शिल्प शिक्षा द्वारा व्यवसाय की शिक्षा।

इन उद्देश्यों से पता चलता है कि उस समय के आर्य सज्जन राष्ट्र की उन्नति तथा हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए पूर्ण सावधान थे। वे पूर्वी तथा पश्चिमी शिक्षा द्वारा आर्य समाज को सुशोभित करने के पक्षपाती थे। यही कारण है कि प्रबन्धकर्त्री सभा के द्वारा स्थापित संस्थाओं ने अंग्रेजी साहित्य, विज्ञान, गणित तथा अर्थ-शास्त्र के अनेकों विद्वान् उत्पन्न किए जो बड़े-बड़े उच्च अधिकारी बने।

संस्था के तीन महान् गुण

इन संस्था के संस्थापक आर्य नेताओं नें तीन बातों को दृष्टि में रखा—

१. आत्म-निर्भरता।

२. आत्म-त्याग।

३. मितव्ययता।

डी० ए० वी० स्कूल और कॉलेज लाहौर ने कभी भी सरकार से कोई आर्थिक सहायता नहीं ली। इस संस्था के प्रबन्ध सदा आत्म त्याग का आदंश दिखाते रहे। आजीवन सदस्य बनकर अनेकों विद्वानों ने अपने गुजारे के लिए केवल ७५ रु० मासिक प्राप्त कर बिना लोभ-लालच के शिक्षा का कार्य किया—उनमें निम्नलिखित प्रसिद्ध महानुभाव हुए—

बख्शी रामरत्न, प्रिंसिपल मेहरचन्द प्रिंसिपल साईदास, पं० राजाराम आदि।

सब से बड़ा आत्म-त्यागी—

महात्मा हंसराज इन त्याशीज व्यक्तियों के शिरोमणी थे, जिन्होंने अपना समस्त जीवन प्रबन्धकर्त्री सभा को समर्पित कर

दिया, और एक पैसा लिए बिना सभा के लिए आजीवन कार्य किया।

मितव्ययता के लिए आज भी आर्य समाज की संस्थाएँ आदर्श मानी जाती हैं। जनता के दान को निर्दयता से व्यय करना आर्य समाज अच्छा नहीं मानता। अतः एक पैसा भी खर्च करना हो, तो सोच समझकर किया जाता है। यही कारण है कि प्रबन्धकर्त्री सभा ने इन तीनों गुणों के कारण दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति की है।

धन का संग्रह—

इस प्रकार की संस्थाओं को खोलना और उन्हें चलाना कोई सरल काम नहीं। इसके लिए पर्याप्त धन चाहिए। परन्तु आर्यजनों के पास इतना विपुल धन कहाँ था। वे थे भी मुट्ठी भर। उनमें न कोई सेठ था, न कोई साहूकार! तो भी उन्होंने हिम्मत न हारी और चन्दा संग्रह करके डी० ए० वी० संस्थाएँ खोलने की ठान ली।

आर्य समाजों के सभी उत्सवों पर लाला लाजपतराय पण्डित गुरुदत्त आदि जा-जाकर धन संग्रह के लिए ओजस्वी भाषण देते रहे तो भी तीन वर्ष में केवल चौबीस हजार आठ सौ अड़सठ रुपये इकट्ठे किये। परन्तु इतनी थोड़ी रकम से स्कूल और कालेज की स्थापना कठिन थी। धन की कमी देखकर आर्यों ने एक आटा फण्ड खोल दिया। आर्य लोग प्रान्त के प्रत्येक नगर में घर-घर जाकर कॉलेज के लिए आटा इकट्ठा करने लग पड़े। इस आटे को बेचकर धन कॉलेज कमेटी को भेज दिया जाता था। इस प्रकार भी पर्याप्त धन इकट्ठा हो गया।

ओजस्वी—जोरदार

महात्मा हंसराज का अनुपम त्याग—

महात्मा हंसराज जी ने उन्हीं दिनों बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की थी। प्रान्त भर में द्वितीय आये थे। वे चाहते तो अपने दूसरे साथियों के समान डिप्टी कमिश्नर या कमिश्नर सहज ही बन जाते; परन्तु वे स्वतन्त्रता के प्रेमी पुरुष थे। इसलिए विदेशी सरकार की सेवा में जीवन खपा देना उन्हें अच्छा न लगता था। उनके मन में किसी रियासत का प्रधान-मंत्री बनने की इच्छा अवश्य जाग्रत हुई थी। वे आर्य समाज के सत्संगों में सम्मिलित हुआ करते थे और यह जानते थे कि आर्य समाज एक कॉलेज खोलना चाहता है जब उन्होंने देखा कि धन के अभाव के कारण कॉलेज खोलने का विचार ढीला पड़ रहा है, तब उनके मन में अपना जीवन आर्य समाज को अर्पित करने की पवित्र उत्कण्ठा जागी। उन्होंने इस विषय में अपने बड़े भाई श्री मुल्कराज से कहा—"यह बहुत दुःख और खेद की बात है कि दयानन्द कॉलेज की स्थापना जैसा कल्याण-कारी काम धन के अभाव के कारण शिथिल पड़ रहा है। मेरी इच्छा है कि एक पैसा लिए बिना अपना जीवन कॉलेज को दान कर दूँ। परन्तु यह काम आपकी सहायता के बिना नहीं हो सकता।

श्री हंसराज, श्री मुल्कराज जी का वैसा ही सम्मान करते थे जैसे लक्ष्मण, श्री राम का और श्री मुल्कराज हंसराज से वैसा ही स्नेह करते थे जैसे राम, लक्ष्मण से। उन दिनों मुल्कराज जी केवल ८० रुपये मासिक वेतन पाते थे। उन्होंने

१. उत्तीर्ण—पास २. शिथिल—ढीला

४० रुपये मासिक श्री हंसराज को देना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार श्री मुल्कराज ने जीवन भर श्री हंसराज जी के परिवार के पालन-पोषण का भार उठाया और श्री हंसराज ने अवैतनिक प्रिंसिपल रूप में डी० ए० वी० कॉलेज का।

श्री हंसराज का यह त्याग सचमुच अपूर्व था। जीवन भर संसार की सेवा करना और बदले में कानी कौड़ी भी न लेना, ऐसे त्याग का उदाहरण दीपक लेकर ढूंढने से भी संसार के इतिहास में न मिलेगा। इस अतुल्य त्याग ने श्री हंसराज को महात्मा हंसराज बना दिया।

डी० ए० वी० कॉलेज की स्थापना—

महात्मा जी के त्याग से आर्यों का उत्साह बढ़ गया। स्कूल व कॉलेज की स्थापना के लिए पुनः कमर कस ली गई। और एक जून, १८८६ को लाहौर में डी० ए० वी० स्कूल की स्थापना कर दी गई। महात्मा हंसराज उसके अवैतनिक मुख्याध्यापक नियुक्त किए गये। केवल पांच दिनों में स्कूल में तीन सौ बच्चे प्रविष्ट हो गए अध्यापकों ने विद्यार्थियों को अपने बच्चे समझा और विद्यार्थियों ने अध्यापकों को अपना पिता। दोनों ने ऐसे परिश्रम से काम किया कि शीघ्र ही डी० ए० वी० कॉलेज भी खोल दिया गया और महात्मा हंसराज उनके अवैतनिक प्रिंसिपल नियुक्त कर दिए गये।

संस्थाओं का विस्तार—

डी० ए० वी० स्कूल और कॉलेज को सफलता से आर्यों का

---

१. आनरेरी—वेतन के बिना, अवैतनिक
२. अपूर्व—जैसा पहले कभी न हुआ हो

उत्साह और बढ़ गया तब उन्होंने देश भर में डी० ए० वी० स्कूल और कालेज खोलकर स्वामी दयानन्द के उद्देश्य को पूर्ण करने का बीड़ा उठाया । स्थान-स्थान पर डी० ए० वी० प्राइमरी मिडिल, हाई स्कूल तथा कॉलेज खोल दिये गये । इन में अनेक डी० ए० वी० कॉलेज प्रबन्धकर्त्री सभा लाहौर के आधीन थे और अनेक स्थानीय प्रबन्धकर्त्री सभाओं के अधीन । इस प्रकार आर्य समाज ने देश भर में पिछले १०० वर्षों में शिक्षा का ऐसा प्रचार किया, जैसा कि भारत की कोई अन्य सभा, समाज व धर्म सम्प्रदाय नहीं कर सका । आजकल अकेली डी० ए० वी० कॉलेज प्रबन्धकर्त्री सभा, नई दिल्ली के आधीन ३०० से अधिक शिक्षा संस्थाएँ कार्य कर रही हैं—

डिग्री कॉलेज	३९	माडल पब्लिक	१७५
व्यवसायिक तथा		मिडल प्रइमरी	१७
तकनीकी कॉलेज	३४	अन्य संस्थान	२१
हायर सैकण्डरी स्कूल	३४		———
हाई स्कूल	४५	कुल	३६७

दिल्ली, जालन्धर, अम्बाला, अमृतसर, हिसार, शोलापुर महाराष्ट्र, चण्डीगढ़, यमुनानगर, बिहार, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, आन्ध्रप्रदेश, राजस्थान आदि में कला-विज्ञान शिक्षा आयुर्वेद तथा शिल्प के कई कॉलेज हैं । कुल मिलाकर देश भर की डी० ए० वी० संस्थाओं की संख्या सैंकड़ों तक जा पहुँची है । अध्यापकों की संख्या सहस्रों तक और छात्रों की संख्या लाखों तक ।

दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय

सर्व प्रथम डी० ए० वी० कॉलेज के साथ संस्कृत भाषा की

१. स्थानीय उस नगर आदि के

शिक्षा के लिए संस्कृत कॉलेज की स्थापना की गई इसके प्रथम

मुख्याध्यापक श्री पण्डित भक्तराम जी शास्त्री बेदतीर्थ थे। इसमें पंजाब विश्वविद्यालय की परीक्षाओं के लिए विशारद तथा शास्त्री परीक्षाओं का ही प्रबन्ध किया गया। उस समय के शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले विद्यार्थी आज भी प्रसिद्ध विद्वान् तथा लेखक माने जाते हैं।

तत्पश्चात् प्रबन्धकर्त्री सभा ने आर्य समाज के लिए सुयोग्य त्यागी तथा लगनशील उपदेश तैयार करने के विचार से दयानन्द ब्रह्म महाविद्यालय की स्थापना १८६६ ई० में की। इस विद्यालय के कार्य को सुतीव्र करने के लिए पण्डित विश्वबन्धु शास्त्री एम० ए० एम० ओ० एल० की सेवाएं सन् १९२१ में प्राप्त की गईं। तदनन्तर श्री पण्डित ऋषिराम जी बी० ए० ने कार्य भार सम्भाला। दोनों आचार्यों ने विद्यालय को चार चाँद लगा दिये।

समय ने पलटा खाया। १९४७ में देश का विभाजन हो गया। इस संस्था को लाहौर में बन्द करना पड़ा। सन् १८५६ ई० में प्रबन्धकर्त्री सभा ने इस विद्यालय की पुनः स्थापना हिसार में की। श्री प्रि० ज्ञानचन्द एम० ए० इसका संचालन करते रहे। इसमें विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा तथा भोजन-वस्त्र आदि दिये जाते हैं। पंजाब, हरियाणा तथा उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त भारत के सुन्दर राज्यों से भी अनेकों विद्यार्थी यहाँ शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

खोज-विभाग

संस्कृत के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज रक्षा तथा प्रकाशन के लिए विभाग की स्थापना प्रबन्धकर्त्री सभा ने १९७४ वि० (१९१७ ई०) में लाहौर में की थी। १९९१ वि० (१९३४ ई०) तक इस विभाग का कार्य पं० भगवद्दत्त बी० ए०

की अध्यक्षता में होता रहा। तत्पश्चात् आचार्य विश्वबन्धु की

अध्यक्षता में यह विभाग पहले लाहौर में कार्य करता रहा और फिर उन्हीं की अध्यक्षता में साधु आश्रम, होशियारपुर में सफलतापूर्वक चलता रहा। वहां खोज सम्बन्धी तथा भिन्न-भिन्न विषयों के अनेक ग्रन्थों का सुन्दर प्रकाशन हो रहा है। बड़े-बड़े धुरन्धर अनुसंधान का काम कर रहे हैं।

उद्देश्यों की पूर्ति

डी० ए० वी० संस्थाओं के काम-काज हर दृष्टि डालने से ज्ञान होता है कि ये जिन चार उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर स्थापित की गई थीं, भली-भाँति पूरा करने में उपयोगी काम कर रही है।

(क) हिन्दी भाषा तथा साहित्य का प्रचार

प्रत्येक डी०ए०वी० संस्था में आर्य भाषा अर्थात् हिन्दी अवश्य पढ़ाई जाती है। विभाजन से पूर्व सर्वप्रथम डी० ए० वी० स्कूल लाहौर ही था, जिसमे प्रथम श्रेणी से हिन्दी पढ़ाई जाती थी। कई संस्थाएं तो ऐसी भी हैं जिनमें शिक्षा का माध्यम ही हिन्दी है, इन सस्थाओं से लाखों विद्यार्थियों ने हिन्दी को पढ़ना लिखना सीखा। अनेक हिन्दी ग्रन्थों का प्रकाशन भी किया गया।

(ख) वेदों तथा वैदिक संस्कृति का प्रचार

डी०ए०वी० संस्थाओं में संस्कृत भाषा पर विशेष बल दिया जाता है। वेदों की शिक्षा के लिए डी० ए० वी० प्रबन्धकर्त्री सभा लाहौर ने १९८७ ई० में वेद विद्यालय स्थापित किया। तत्पश्चात् उसका नाम ब्रह्म महाविद्यालय रखा गया। इसमें अनेक छात्र पढ़कर आर्य समाज के उपदेशकों अथवा पुरोहितों का कार्य कर रहे हैं। लालचन्द पुस्तकालय में सहस्रों प्राचीन

तलिखित संस्कृत ग्रन्थ ढूंढकर सुरक्षित कर लिए गये थे तथा

हां से अनेक वैदिक ग्रंथों का प्रकाशन होता रहता था।

(ग) पश्चिमी विद्याओं का प्रचार

डी० ए० वी० संस्थाओं में पूर्वी विद्याओं के साथ पश्चिमी विद्याओं की भी शिक्षा दी जाती है। इन संस्थाओं से लाखों छात्रों ने निःशुल्क या सस्ती शिक्षा प्राप्त की है। वे प्रत्येक क्षेत्र में अच्छे-अच्छे स्थान पर काम कर रहे हैं, तथा ऋषि दयानन्द के उद्देश्य को पूरा करने में सहयोग दे रहे हैं।

(घ) रोजगार तथा शिल्प शिक्षा

डी० ए० वी० कॉलेज प्रबन्धकर्त्री सभा अधीन आयुर्वेद, कामर्स, शिक्षा, दस्तकारी, इन्जीनियरिंग आदि के कई स्कूल तथा कॉलेज चल रहे हैं, जिनमें सहस्रों छात्र शिक्षा पा रहे हैं।

(ङ) राजनीतिक जाग्रति

गत शताब्दी के अन्तिम वर्षों तथा इन शताब्दी के प्रथम पचास वर्षों में जो राजनीतिक जाग्रति देश में दिखाई दी, उसे लाने में डी० ए० वी संस्थाओं का मुख्य भाग है। इन संस्थाओं के अध्यापक स्वदेशी-प्रेमी तथा स्वदेशी वस्तुओं के प्रेमी रहे हैं। उनसे प्रेरणा पाकर सहस्रों नवयुवकों ने स्वराज्य की प्राप्ति के लिए प्रशंसनीय काम किया। स्मरण रहे कि शहीद भगतसिंह डी० ए० वी० स्कूल लाहौर के ही विद्यार्थी थे।

निःशुल्क---फीस बिना

(च) पथ-प्रदर्शन

डी० ए० वी० संस्थाओं से पूर्व अधिकतर शिक्षा संस्थाएं सरकार के ही अधीन थीं या ईसाई मिशनों के स्वतन्त्र संस्थाएं खोलने का किसी को साहस नहीं होता था। डी० ए० वी० संस्थाओं ने अन्य लोगों को मार्ग दिखाया और वे भी शिक्षा प्रचार का कार्य करने लगे।

(छ) धर्म-शिक्षा

इन संस्थाओं की सबसे बड़ी सफलता इस बात में है कि इनमें बच्चों को धर्म-शिक्षा व देश-प्रेम की शिक्षा भी दी जाती है। वे संध्या, हवन, स्वाध्याय आदि करना सीखते हैं तथा अपने धर्म और देश की संस्कृति से भली भाँति परिचित हो जाते हैं। प्रायः प्रत्येक डी० ए० वी० स्कूल में आर्य युवक समाज बने हुए हैं, ताकि छात्रों में सदाचार तथा देश-प्रेम के बीज बोये जा सकें। जब तक ये संस्थाएँ नहीं बनी थीं, तब तक बच्चे विधर्मियों की संस्थाओं में पढ़कर अपने धर्म से मुख मोड़ते जाते थे और अपने देश को हीन समझते थे। इन संस्थाओं में पढ़े हुए बच्चों के हृदयों पर अपने धर्म व देश-प्रेम की गहरी छाप लग जाती है और वे अपने धर्म, संस्कृति व देश को सबसे ऊँचा मानने लग जाते हैं।

—: o :—

पाठ 8

वैदिक संस्कार

धर्म का स्वरूप

अनेकों ऋषियों, महर्षियों तथा अन्य विचारकों ने धर्म के स्वरूप का वर्णन किया है; किन्तु उनके द्वारा वर्णन किया गया स्वरूप सर्वांगीण नहीं। केवल जैमिनी मुनि का लक्षण, जो कि उन्होंने मीमांसा दर्शन में लिखा है, सर्वांगीण है उन्होंने लिखा है।

'यतोऽभ्युदय निःश्रेयसिद्धिः स धर्मः।

अर्थात् जिन नियमों तथा सिद्धान्तों पर आचरण करने से अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो उसे धर्म कहते हैं।

अभ्युदय—इसका अर्थ है सांसारिक उन्नति। शरीर स्वस्थ बलवान तथा चिरंजीवी हो। धन-धान्य तथा अन्य सम्पतियाँ प्राप्त हों। यशस्वी तथा सम्मानपूर्ण जीवन हो। ज्ञान-विज्ञान की न्यूनता न हो। बन्धुवर्ग श्रेष्ठ हो। पुत्र-पौत्र विद्वान् निरोग तथा सम्मान करने वाले हों, जनता तथा राष्ट्र में विशेष स्थान प्राप्त हो। इस वैभव नाम 'अभ्युदय' है।

निःश्रेयस—इसका अर्थ है आध्यात्म उन्नति। काम, क्रोध, मोह तथा अहंकार पर आत्मिक भावनाओं का पूरा नियन्त्रण हो। धन की कमाई पवित्र हो। परमात्मा को अपना स्वामी मान कर सभी कार्यों में उसकी आज्ञाओं का पालन करें। धैर्य, क्षमा, इन्द्रिय-दमन आदि सद्गुणों से भरपूर हों। पुर्नजन्म पर विश्वास हो कोई भी ऐसा कार्य न हो जिससे परलोक बिगड़े। इन गुणों को निःश्रेयस कहते हैं।

ऋषि का अभिप्राय है कि इन दोनों गुणों को साथ-साथ उन्नत करने वाला पुरुष धर्मात्मा कहलाता है। जो व्यक्ति केवल अभ्युदय अथवा केवल निःश्रेयस को ही प्राप्त करता रहता है, व ऋषि की दृष्टि में धर्मात्मा नहीं।

इसी दृष्टि से महर्षि दयानन्द सरस्वती ने संस्कारों की पद्धति को पुनर्जीवित किया। संस्कारों में जहां सांसारिक उन्नति के विकास की ओर ध्यान दिया है, वहाँ आध्यात्मिक गुणों को विकसित करने का भी आयोजन है।

संस्कार का अर्थ

संस्कार का सामान्य रूप से अर्थ है सुधारना। सुधारने के भी दो भाग हैं—१. दोषापनयवम्। २. गुणाधानम्। किसी वस्तु के अवगुणों को दूर करना और उसमें उत्तम गुणों को भर देना। उदाहरण के लिए आप चपाती को लीजिए।

(क) माताएँ चपाती को पकाकर चूल्हे में सेंकती हैं पुनः उसे झाड़न द्वारा स्वच्छ करती हैं। कपड़े से झाड़ने पर उस पर लगी हुई राख, जली हुई पपड़ी अलग हो जाती है। यह क्रिया दोष दूर करने के लिए की जाती है। घी से उसे चुपड़ा जाता है। अब वह चपाती सुन्दर, सुगन्धित तथा पौष्टिक बन जाती है। यह है गुणाधान।

(ख) उदाहरण के रूप में आप ऐसे बच्चे को लीजिए, जिसके बाल बिखरे हुए हों, आँखें गंदी हों, मुंह पर मैल जमी हुई हो, कपड़े मैले कुचैले हों। उस बच्चे को देखकर आपके मन में उसके प्रति प्रेम नहीं, घृणा उत्पन्न होगी। यदि उसी बच्चे को साबुन से मलकर नहलाया जाये, सुगन्धित तेल मलकर बालों पर कंघी की जाये और कपड़े साफ पहनाए जाएं, तो वही बालक

आपको अच्छा लगने लगेगा। यह है उस बच्चे का शारीरिक संस्कार।

(ग) इसी प्रकार लोहे को लीजिए, जब वह खान से निकलता है, उसमें मिट्टी और पत्थर मिले हुए होते हैं। उस समय वह बहुत सस्ता होता है। जब उससे मिट्टी पत्थर दूर किये जाते हैं, तब उसका मूल्य पहले से कई गुणा बढ़ जाता है। जब कुशल कारीगर उसे बना संवार कर घड़ी अथवा अन्य कोई वस्तु बना देते हैं, तो उसकी कीमत सैंकड़ों गुणा ज़्यादा हो जाती है।

इस प्रकार जो मनुष्य संस्कारों द्वारा संवार दिए जाते हैं, और उनके अवगुण निकाल कर उनमें गुण भर दिए जाते हैं, संसार में उनका मूल्य तथा महिमा बढ़ जाती है। मनु महाराज

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विजोच्चते।

अर्थात्—बालक जन्म से शूद्र के समान ज्ञान शून्य तथा अनेक न्यूनताओं से युक्त होता है परन्तु उसे संस्कारों द्वारा संवारा ज़ाता है, तब वह द्विजन्मा कहलाता है।

इस बालक को संवारने वाले तीन व्यक्ति हैं।

माता-पिता और आचार्य। "मातृमान्, पितृमान्, आचार्य-वान् पुरुषों वेद।" उत्तम माता तथा उत्तम पिता तथा उत्तम आचार्यों द्वारा संवारा हुआ बालक ही ज्ञान तथा विज्ञान प्राप्त कर संसार में विकसित होता है। इन संस्कारों को हम तीन भागों में बाट सकते हैं।

---

१. माता-पिता के कर्त्तव्य
२. आचार्य के कर्त्तव्य

संस्कार के प्रकार

बालक को सुधारने के लिए हमारे शास्त्रों में सोलह प्रकार के संस्कारों का विधान किया गया है। जिसमें केवल यहाँ तीन संस्कारों का महत्व बतलाया जायेगा।

१. नामकरण संस्कार

'नामकरण' का अर्थ है नाम रखना। संसार के सभी पदार्थों का कोई-न-कोई नाम अवश्य होता है। इसी प्रकार जो आत्मा शरीर धारण कर जन्म लेता है, उसका भी नाम रखना आवश्यक है। यदि सभी बच्चों को काका, मुन्ना, काकी, मुन्नी, बेबी आदि से पुकारा जाये तो एक को बुलाने पर सभी भागे-भागे आयेंगे। इस प्रकार से गड़बड़ मच जाएगी अतएव प्रत्येक बालक का नाम अलग-अलग होना चाहिए :

नामकरण की विधि

शास्त्रों ने बताया है कि बालक का नाम जन्म से ११वें दिन अथवा १०१ वें दिन रखा जाये। नामकरण संस्कार के दिन मित्रों तथा सम्बन्धियों को बुलाया जाता है। बालक के माता-पिता द्वारा अत्यन्त श्रद्धा से प्रार्थना तथा स्वस्तिवाचन के मंत्रों का पाठ किया जाता है। तदन्तर हवन करते हैं। बालक की माता नवजात शिशु को पिता की गोद में देती है और पिता तिथि नक्षत्र तथा उनके देवताओं का नाम लेकर चार आहुतियाँ देता है

जिससे सूचना दी जाती है कि बालक का जन्म अमुक तिथि नक्षत्र में हुआ है तत्पश्चात् बालक की माता इसे गोद में ले लेती है और पिता बालक की नासिकाओं से चलती हुई वायु को छूकर बालक का नामकरण करता है।

नामकरण का प्रकार

बालक और बालिकाओं के नाम अलग-अलग प्रकार के रखे जाते हैं। नामकरण का उद्देश्य है—जैसा नाम हो वैसा उनमें गुण भरे जायें" अर्थात् यदि बालक का नाम 'विद्या सागर' रखा जाए, तो उसे विद्या का समुद्र ही बना दिया जाये। यदि वह लड़का अयोग्य तथा मूर्ख रहेगा, तो माता-पिता का दोष माना जायेगा; क्योंकि माता-पिता ने नामकरण के समय प्रतिज्ञा की थी—"हम जैसा नाम रख रहे हैं वैसे ही गुण इस बालक में भर देंगे।"

अतएव— सत्यदेव-सत्य का देवता हो, युद्धवीर-डरपोक न हो। इसी प्रकार सुशीला नाम की कन्या शील की प्रतिमा हो। सुभाषिणी कदापि कटु वचन न बोले। मेधाविनी-बुद्धि वाली बनें, यही नामकरण का उद्देश्य है।

अनुचित नामकरण

हमारे देश में आज वर्षों पर्यन्त बच्चों का नामकरण विधि-पूर्वक नहीं किया जाता है। कई लोग पश्चात्यों का अनुकरण करते हुए बच्चे को बेबी, मिक्की, हैपी, बिट्टु इत्यादि नाम से पुकारते हैं; परन्तु यह आर्य धर्म के विपरीत है। प्राचीन समय में यथावत् नामकरण संस्कार होते थे और सभी नाम बुद्धि, यश, विद्या, धन, बोद्ध शक्ति का परिचय देते थे। परन्तु कुछ ऐसा

समय आया कि भारत के लोग नामकरण के महत्व भूल कर ऊट पटाँग तथा घृणित नाम रखने लगे। कुछ एक घृणित नाम रखे गये—कूड़ेमल, गंजूमल, टोपणमल, खोताराम, कालूराम तोताराम इत्यादि। महीनों के नाम से–चेतराम, जेठूराम, हाड़ीमल, सावनराम, फाग्गूराम। नगरों के नाम से–लाहौरीराम, जालन्धरीराम, पिण्डीदास, पिशौरीराम इत्यादि। देशों के नाम पर अमरीकनलाल विलायती राम इत्यादि।

नाम का व्यक्ति पर प्रभाव

नाम का मनुष्य पर भारी प्रभाव पड़ता है, इसलिए हमारे नामकरण संस्कार में बच्चे के नाम माता-पिता तथा समाज के लोग सोच-विचार कर रखे। यदि बालक अथवा बालिका को प्रभु भक्ति वाला बनाना हो तो उसका नाम—ओमप्रकाश तथा गायत्री रखा जाये। यदि विद्वान् बनाना हो तो उसका नाम विद्यानिधि तथा सुव्रता रखा जाए। यदि मधुरता गुण भरना हो, तो मधुदेव तथा मधुमती रखा जाए। माता-पिता उत्तम नाम रखकर संतोष कर लेते हैं लेकिन उन बच्चों में नाम के अनुसार गुण भरने के लिए प्रयत्नशील नहीं रहते, वे माता-पिता को सदा सावधान रहना चाहिए कि बच्चे में नाम के विपरीत कोई भी अवगुण घुसने न पाये। यदि बालक ऐसा कार्य करे तो तुरन्त उसे सावधान करे।

बिदुला ने अपने पुत्र का नाम संजय रखा था। वह एक बार युद्ध में पराजित होकर भाग आया। माँ ने उसे धिक्कारते हुए कहा—

संजयो नात नामासि, न तु पश्यामि तत्वयि।

हे पुत्र ! तू संजय (सदा जीतने वाला) है; परन्तु संजय नाम के अनुकूल तुझ में गुण दिखाई नहीं देता।

महाराज कलगीधर बादशाह श्री गुरु गोविन्दसिंह जी के पुत्र ने युद्ध में जाते समय घोषणा की थी —

अजीत हूं तो कभी जीता न जाऊंगा।
जीता गया तो लौटकर जीता न आऊंगा ॥

जिन बच्चों के नाम इस प्रकार वीरता, विद्या यश आदि का गुण प्रकट करते हैं, उन्हें सदा ही उन गुणों को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। जिन बालकों के नाम घृणित तथा ऊट-पटाँग हैं, वे तुरन्त अपना नाम परिवर्तित कर लें।

धन्य हैं महर्षि दयानन्द, जिनकी कृपा से आजकल वैदिक रीति द्वारा नामकरण किए जाने लगे हैं।

९. मुण्डन संस्कार

मुण्डन संस्कार का अर्थ है बालक के जन्म के पश्चात् पहली बार सिर के बालों को मुंडवाना। इसका नाम है 'चूड़ाकरण संस्कार' क्योंकि मुण्डन के पश्चात् बालक की चोटी में चूड़ा रखी जाती है।

मुण्डन का कारण तथा समय

यह संस्कार जन्म से ३६५ दिनों के बीच अथवा तृतीय वर्ष में किया जाता है इसके कई एक कारण हैं—

(क) समस्त शरीर में सिर का सर्वोत्तम स्थान है। इसीलिए मनुष्य का सिर सब अंगों से ऊंचा रहता है। कई विद्वानों ने शरीर को देव मन्दिर कहा है, तो मस्तक को इस मन्दिर का कलश। इसी में मस्तिष्क का निवास है। उस मस्तिष्क को

सुरक्षित रखने के लिए भगवान ने अस्थियों का कोश बनाया है। इसी मस्तिष्क से निकल कर समस्त शरीर में ज्ञानवाहिनी नाड़ियों का समूह कार्य करता है। कई विद्वानों ने शरीर को ज्ञान का स्रोत कहा है। यह सिर जितना सुरक्षित तथा स्वस्थ रखा जाए, उतना ही मनुष्य विद्वान् तथा विचारशील बनता है। इसे खुली तथा शुद्ध वायु की आवश्यकता है, अतः एक बार इसके बालों को मुडवा देने का विधान शास्त्रकारों ने बनाया है।

(ख) पहले वर्ष से अढ़ाई वर्ष तक बालक को दो रोग घेर लेते हैं पहला रोग है दाँतों का निकलना। दाँतों के निकलते समय बच्चे को बड़ा कष्ट होता है। आँखों में पीड़ा, ज्वर, दस्त और वमन (कै) आने लगते हैं। बच्चा इन कष्टों से पीड़ित होकर सिर नहीं उठा सकता अतः वैद्यों ने मुण्डन कराने की आज्ञा दी है। मुण्डन के पश्चात् यदि सिर पर घी, मक्खन, बादाम के तेल की मालिश करें तो दाँत निकलने में कष्ट नहीं होता।

(ग) बच्चों के सिर में फोड़े फुंसियाँ आदि निकलने लगती हैं, यदि बाल कटवा कर ऋतु अनुकूल सिर को साबुन अथवा दही आदि से प्रतिदिन स्वच्छ रखा जाये तो फोड़े, फुंसियों का भय नहीं रहता। महर्षि सुश्रुत हमारे देश में प्रसिद्ध वैद्य थे। उन्होंने लिखा है—

पापोशमनं केशनखरोमारमारर्जनम्।
हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्॥

अर्थात्—केश (सिर के बाल), नाखून तथा शरीर के अन्य बालों को कटाने से रोग दूर होते हैं, मन प्रसन्न होता है, सिर

तथा शरीर में स्फूर्ति आती है, सौन्दर्य बढ़ता है तथा उत्साह बढ़ता है।

इसी प्रकार चरक संहिता में भी बालों को कटवाने का आदेश देते हुए कहा—बाल कटवाने से शक्ति, दीर्घ आयु, प्रसन्नता, सुन्दरता तथा उत्साह शक्ति की प्राप्ति होती है। कई वैद्यों ने गंजेपन से बचने के लिए इसे बड़ा उपयोगी माना है। सिर में सिकरी पड़ने से उत्पन्न रोग मुण्डन से दूर हो जाता है। बालक मुण्डन द्वारा बुद्धिमान तथा विचारशील बनता है।

मुण्डन संस्कार की संक्षिप्त विधि

निश्चित समय पर मित्रों तथा सम्बन्धियों को संस्कार के लिए निमन्त्रित किया जाता है। प्रार्थना मंत्रों के पश्चात् स्वस्तिवाचन तथा शान्ति पाठ के मंत्रों का श्रद्धा और भक्ति से उच्चारण किया जाता है। पुरोहित लोग यज्ञ-हवन कराते हैं। विशेष हवन के पश्चात् पिता बालक को गोद में लेकर बड़ी सावधानी से मंत्रों द्वारा बालक के बालों को कटवाता है पश्चात् नाई को निर्देश करता है कि वह बड़ी सावधानी से उसका मुण्डन करे। मुण्डन के पश्चात् बालक को नहला-धुला कर तथा स्वच्छ और सुन्दर वस्त्र पहना कर उसे यज्ञ कुंड के पास लाया जाता है। पूर्णाहुति दी जाती है और सभी निमन्त्रित अतिथि उस बालक को आशीर्वाद देते हैं।—"त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः" अर्थात् हे बालक तू सब प्रकार की उन्नति करता हुआ सौ वर्ष तक जीवित रहे।

३, उपनयन संस्कार

उपनयन का अर्थ—"उप का अर्थ है 'समीप', 'नयन का अर्थ ले जाना। अतः 'उपनयन' का अभिप्राय उस धार्मिक कार्य से है,

जिसके द्वारा बालक को गुरु के पास ले जाया जाये। जब बालक पाँच वर्ष का हो जाये तो उसे विद्या प्राप्ति के लिए गुरु के पास ले जाया जाये। गुरु उसे अपनी देख रेख में विद्या पढ़ाये। विद्या पढ़ाने से पूर्व गुरु उसे तीन तारों वाला यज्ञोपवीत पहनाता है, पुन: उसे गायत्री मन्त्र का उपदेश देता है इसी प्रकार आचार्या कन्या गुरुकुलों में प्रवेश करने वाली कन्याओं को भी यज्ञोपवीत देती है।

यह संस्कार पाँचवें वर्ष से बारहवें वर्ष तक अवश्य ही हो जाना चाहिए। जीवन में शिक्षा का महत्व है जो बालक शिक्षा को प्राप्त नहीं करते वे पशु के समान ही रहते हैं।

उपनयन का महत्व

महाराज रामचन्द्र, श्री कृष्ण आदि महापुरुषों का भी आचार्यों ने उपनयन संस्कार कराया था। इन्हें गुरुकुल में रख कर 'द्विज' कहा जाता है। प्राय: सभी सम्प्रदायों में इसी यज्ञो-पवीत की नकल की जाती है। मुसलमानों में 'खतना' ईसाइयों में 'बपतिस्म' सिक्खों में 'अमृत छकना'।

यज्ञोपवित के तीन धागे

यज्ञोपवित के तीन धागों से प्रत्येक मनुष्य को उस पर लदे तीन ऋणों का संकेत मिलता है। वेदों में बतलाया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति तीन कर्त्तव्यों को सम्पादित करने के लिए जन्म लेता है। जैसे ऋण चुकाना आवश्यक है, इसी प्रकार तीन कर्त्तव्यों का सम्पादन करना परम धर्म है। ये तीन ऋण कहलाते हैं—

१. देव ऋण, २. ऋषि ऋण, ३. पितृ ऋण

१. देव ऋण

अग्नि, वायु, जल आदि दिव्य शक्तियों से हमारे जीवन का निर्वाह होता है। इन्हें यज्ञ-हवन करने से हम शुद्ध कर सकते हैं। इसका दूसरा भाग (ब्रह्म-यज्ञ) अर्थात् देवताओं के देवता परमात्मा की संध्या, उपासना द्वारा शक्तियों को प्राप्त करना।

२. ऋषि ऋण

हमारे ऋषि महर्षियों ने अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थों की रचना की है। उनका प्रतिदिन स्वाध्याय करना हमारा कर्त्तव्य है। इसलिए महर्षि दयानन्द ने लिखा है—

वेदों का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। मनु महाराज ने लिखा—

> यो नाधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
> स जीवनन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।।

अर्थात्—जो द्विजन्मा वेदादि सत्यशास्त्रों को नहीं पढ़ता; परन्तु इधर-उधर के किस्से, कहानियों के पढ़ने में परिश्रम करता है, वह शूद्र बन जाता है। इस प्रकार ऋषिकृत ग्रन्थों का स्वाध्याय सर्वदा जीवनपर्यन्त करते रहने से यह ऋषि ऋण उतरता है।

३. पितृ ऋण

> जनकितोपनैताच यस्तु विद्यां प्रयच्छति ।
> अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः ।।

जन्म देने वाला (पिता) उपनयन देने वाला (गुरु) और जो विद्या देता है (आचार्य) अन्न देने वाला और भय से रक्षा करने वाला से पांच पितर कहे जाते हैं। इन्होंने ही शिक्षा दी, इन्होंने हमारी सब प्रकार से रक्षा की। इनके हमारे ऊपर बड़े उपकार हैं। इसलिए इनका आदर सत्कार करना उनको सभी सुविधाएँ प्रदान करना, हमारा परम कर्त्तव्य है। इन जीवित पितरों की श्रद्धापूर्वक सेवा करने से यह पितृ ऋण उतारा जा सकता है—

इन ऋणों को उतारने के लिए बालक यज्ञ में बैठकर प्रतिज्ञा करता है।

इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि

में असत्य से सत्य को प्राप्त होता हूं।

—:o:—

पाठ 8

भजन

हे दयामय हम सबों को शुद्धताई दीजिए ।
दूर करके हर बुराई को भलाई दीजिए ॥

ऐसी कृपा और अनुग्रह हम पे हो परमात्मा ।
हों सभासद् इस सभा के सब के सब धर्मात्मा ॥

वेद के प्रचार में होंवें सभी पुरुषार्थी ।
होवे आपस में प्रीति और बने परमार्थी ।

लोभी और कामी क्रोधी कोई भी हम में न हो ।
सब व्यसनों से बचे और छोड देवें मोह को

यज्ञ हवन से हो सुगन्धित अपना भारतवर्ष देश ।
वायु जल सुखदायी होवे जाएँ मिट सारे कलेश ॥

अच्छी संगत में रहें और वेद मार्ग पर चलें ।
तेरे ही होवें उपासक और कुकर्मों से बचें ॥

कीजिए 'केवल' का हृदय शुद्ध अपने ज्ञान से ।
मान भक्तों में बढ़ा सबका भक्तिदान से ॥

पाठ 9

महर्षि दयानन्द जी का जीवन चरित्र

(भाग 2)

स्वामी जी का कार्य

जब स्वामी दयानन्द जी ने गुरु-दक्षिणा दी, तब उनकी अवस्था ३६ वर्ष की थी। उसके पश्चात् वे केवल २० वर्ष जीवित रहे वे ब्रह्मचारी थे और योगी थे। यदि बार-बार उन्हें विष न दिया जाता तो वे सौ वर्ष से अधिक तक तो जीवित रहते ही; परन्तु स्वार्थी और दुष्ट लोगों ने उन्हें अपने मार्ग का काँटा और पथ का रोड़ा समझ कर अनेक बार विष दिया। अन्त में उनकी मृत्यु भी विष से हुई।

बीस वर्ष बहुत थोड़ा समय होता है। परन्तु उसमें भी जो महान् काम स्वामी दयानन्द ने कर दिखाया, वह विरले ही व्यक्ति कर सकते हैं। उन्होंने भारत के अनेक प्रान्तों में अनेक बार भ्रमण किया। स्थान-स्थान पर आर्य समाज स्थापित किये, व्याख्यान किये और शास्त्रार्थ किये। अनेक व्याख्यानों और शास्त्रार्थों में वे निडर होकर असत्य का खण्डन और सत्य का मंडन करते थे। यात्रा में भी वे वेदों का भाष्य करते रहते थे। उन्होंने ऋग्वेद और यजुर्वेद का भाष्य किया। वेदांग प्रकाश, सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, संस्कार विधि, पंच महायज्ञ विधि आदि दर्जनों ग्रन्थ लिखे। अनेक स्थानों पर सस्कृत की पाठशालाएँ, अनाथालय आदि स्थापित किए। भाव यह है

कि वे अपने जीवन के एक-एक पल को भले कार्यों में लगाते थे। कभी भी समय नष्ट नहीं करते थे।

उनके जीवन के इन अन्तिम बीस वर्षों में ऐसी अनेक घटनाएँ हुई, जो रोचक भी हैं। और शिक्षाप्रद भी। उन्हीं में से कुछ एक का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

आदर्श मनुष्य

आदर्श मनुष्य उसे कहा जाता है, जिसका, शरीर बलवान हो, बुद्धि तीव्र हो और आत्मा सत्यप्रिय तथा निर्भय हो। जैसा कि निम्नलिखित घटनाओं से स्पष्ट होता है स्वामी दयानन्द आदर्श मनुष्य थे; क्योंकि उनकी काया बुद्धि तथा आत्मा ऊपर लिखे गुणों से युक्त थी।

बलवान शरीर

जालंधर में अपने व्याख्यान में स्वामी जी ने कहा—"ब्रह्मचारी के शरीर में बहुत बल होता है।" सरदार विक्रम सिंह ने पूछा—इसका प्रमाण क्या है?

स्वामी जी—प्रमाण भी किसी समय दे देंगे।

एक दिन सरदार जी दो घोड़ों की बग्घी पर बैठकर कहीं जा रहे थे कि बग्घी एकाएक रुक गई। साईस ने घोड़ों पर तड़ातड़ चाबुक से प्रहार किये; परन्तु उनके पाँव आगे न उठ सके। सरदार जी ने पीछे देखा तो चकित हो गए! स्वामी दयानन्द बग्घी पकड़े खड़े थे। स्वामी जी नें पूछा · अब किसी और प्रमाण की भी आवश्यकता है क्या? सरदार जी बोले नहीं महाराज आपकी बात सर्वथा सत्य सिद्ध हुई।

तीव्र बुद्धि

ब्रह्मचर्य के पालन से शरीर भी हृष्ट-पुष्ट होता है और बुद्धि भी तीव्र हो जाती है। वह अत्यन्त सूक्ष्म विषयों को भी शीघ्र

हल कर लेता है। मनुष्य सैकड़ों, सहस्रों मन्त्र श्लोकों को कंठस्थ कर लेता है। अपनी ऐसी ही बुद्धि के बल से स्वामी दयानन्द ने उच्च कोटि के व्याख्यान दिये, ग्रंथ लिखे और अनेक शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त की। उन्होंने कानपुर और काशी में जो शास्त्रार्थं किये उनसे जहाँ उनकी योग्यता की धूम मच गई वहाँ उनके विचारों का भी बहुत प्रचार हुआ।

कानपुर का शास्त्रार्थं

१८६८ ई० की वर्षा ऋतु के आरम्भ में स्वामी जी कानपुर पहुंचे और एक कायस्थ द्वारा बनाये हुये घाट पर ठहरे उन्होंने एक विज्ञापन में मूर्ति पूजा, शैव, वैष्णव आदि मत पुराणों तथा तंत्र ग्रंथों को वेद विरुद्ध बताया। इससे नगर में हलचल मच गई काशी के प्रसिद्ध विद्वान् कैलाश पर्वत उन दिनों कानपुर में थे। लोगों ने उन्हें स्वामी जी से शास्त्रार्थं करने को कहा तो वे बोले— वे शूद्र के स्थान पर नहीं जाते। स्वामी जी ने कैलाश पर्वत की यह बात सुनकर कहा— शूद्र के स्थान पर नहीं जाते तो म्लेच्छ के राज्य में क्यों रहते हो ?

स्वा० कैलाश पर्वत तो काशी चले गये; परन्तु पं० हलधर ओझा, अनेक पंडितों को साथ लेकर स्वामी दयानन्द के मुकाबले पर आये। संस्कृत के विद्वान् कलैक्टर श्री थैन उस शास्त्रार्थ के मध्यस्थ चुने गये। सहस्रों लोग इकट्ठे हुए। पुलिस ने प्रबन्ध किया। शास्त्रार्थं संस्कृत में हुआ। दोनों ओर से युक्तियों और प्रमाणों की झड़ी लगा दी गई। उसकी समाप्ति पर मध्यस्थ ने स्वामी दयानन्द जी को विजयी ठहराया। परन्तु विरोधी लोग गंगा जी की जय के नारे लगाते

हुए गये ओझा जी तो गाड़ी में बैठकर चले गये । इस शास्त्रार्थ के प्रभाव से जब अनेक लोगों ने मूर्तियों को गंगा जी में बहाना आरम्भ किया तब पंडित हलधर ओझा ने एक विज्ञापन छपवाया, जिसमें लोगों से प्रार्थना की गई कि मूर्तियों को गंगा में बहाने के स्थान पर कैलाश जी के मन्दिर में पहुंचा दी जाएँ ।

इस प्रकार काशी में भी अनेक विद्वानों ने मिलकर स्वामी दयानन्द से टक्कर ली । परन्तु वे वेदों का एक भी ऐसा मन्त्र न दिखा सके, जिसमें पूजा करना लिखा हो । विरोधियों नें गृह्य-सूत्र के दो पन्नों को वेद के पन्ने कह कर सफेद झुठ बोला और उन्हें स्वामी दयानन्द के सम्मुख रख दिया । स्वामी जी चकित होकर उन्हें पढ़ ही रहे थे कि विरोधियों ने अपनी जय के नारे लगा दिये । परन्तु छल-कपट से सच्चाई कब तक छिपी रह सकती है उन दिनों स्वा० कैलाश पर्वत काशी में न थे । जब लौटे तब उन्होंने कहा—स्वामी दयानन्द को योग्यता से हराना चाहिए था । इस छल कपट की विजय से तो स्वामी जी का यश और अधिक फैलेगा और सचमुच फैला भी ।

निर्भय आत्मा

जिसकी आत्मा बलवती होती है, मौत भी उसके सिर पर मंडराती हो तब भी वह सत्य ही कहता है । स्वामी दयानन्द का आत्मिक बल कैसा था, इस निम्नलिखित घटना से स्पष्ट हो जायेगा ।

जिन दिनों स्वामी जी कर्णवास में प्रचार कर रहे थे, उन दिनों बरेली का रईस राव कर्णसिंह वहाँ गंगा स्नान के लिए आया । वह विष्णु भक्त था और वृन्दावन के श्री रंगाचार्य का

शिष्य था। स्वामी दयानन्द तो गंगा स्नान से मुक्ति, रासलीला, वैष्णव मत आदि का खंडन करते थे। इसलिए कर्णसिंह क्रोध में भर कर स्वामी जी से बोला—'तुम गंगा जी को नहीं मानते ?' स्वामी जी—'जितनी है, उतनी मानते हैं।' कर्णसिंह—'कितनी है ?'

स्वामी जी—'हमारे लिए तो कमंडलु भर ही है।' तब कर्णसिंह ने संस्कृत के कुछ श्लोक पढ़े जिसमें गंगा जी की महिमा का बहुत वर्णन था। स्वामी जी बोले—ये पाखंडियों ने बना रखे हैं। इस पर कर्णसिंह का हाथ तलवार की मूठ पर गया और उसके एक हृष्ट-पुष्ट साथी ने स्वामी जी को पकड़ना चाहा। स्वामी जी ने पहलवान को धक्का देकर दूर पटक दिया और तलवार छीनकर उसके दो टुकड़े कर डाले। स्वामी कड़क कर बोले—'अरे दुष्ट! लड़ना है तो जयपुर के राजा से जाकर लड़ो और शास्त्रार्थ करना है तो गुरु रंगाचार्य को बुला लो।'

इस पर लोगों में कुछ एक स्वामी जी की रक्षा के लिए उठ खड़े हुए और कर्णसिंह को ललकारने लगे। तब कर्णसिंह वहाँ से दुम दबाकर भाग गया। बाद में उसने कुछ गुण्डों और वैरागियों को स्वामी जी के प्राण लेने के लिए तैयार किया। परन्तु सन्यासी की हुंकार और वीरता से वे सफल न हो सके।

सत्य प्रेमी दयानन्द

बरेली में स्वामी जी श्री लक्ष्मीनारायण जी के पास ठहरे हुए थे। वे प्रतिदिन अपने व्याख्यानों में सब मतों और सम्प्रदायों की झूठी बातों का खंडन करते थे। उनके व्याख्यानों में उच्च सरकारी अधिकारी भी आया करते थे। एक दिन जब स्वामी जी ने ईसाई मत की गलत बातों का खंडन किया तो वे

अप्रसन्न हो गए। उन्होंने श्री लक्ष्मी नारायण जी को कहा कि

स्वामी से कह दो, ईसाई मत धर्म का खंडन न किया करें।
लक्ष्मी नारायण ने यह बात डरते-कांपते स्वामी जी तक पहुंचा
ही दीं। अगले दिन स्वामी जी नें अपने व्याख्यान में कहा—
"लोग कहते हैं कि सत्य का प्रकाश मत करो, क्योंकि कलैक्टर,
कमिश्नर आदि नाराज हो जायेंगे, चाहे चक्रवर्ती सम्राट ही
क्यों न क्रुद्ध हो जाये, हम झूठ के खंडन से नहीं रुक सकते।
जब तक कोई ऐसा व्यक्ति उत्पन्न नहीं होता जो मेरी आत्मा
को नष्ट कर सके, तब तक हम सत्य का प्रचार करते ही
जायेंगे।'

निर्भीक दयानन्द

प्राय: मनुष्य भय और लोभ के कारण सच्चाई के मार्ग से
फिसल जाया करते हैं। अभी हमने पढ़ा कि स्वामी दयानन्द को
न किसी अधिकारी का भय था, न मृत्यु का डर। निम्नलिखित
घटना से सिद्ध होता है कि लाखों की सम्पत्ति भी उन्हें अपने
उद्देश्य से हटा न सकी।

उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह स्वामी जी के श्रद्धालु
भक्त थे। एक दिन उन्होंने स्वामी जी से एकान्त में निवेदन
किया—"महाराज ! आपको विदित है कि यह राज्य
एकलिंगेश्वर महादेव के अधीन है। आप यदि देश काल को
दृष्टि में रखते हुए मूर्ति-पूजा का खंडन त्याग दें और उस
मन्दिर के महन्त बन जाएँ तो लाखों की सम्पत्ति के स्वामी बन
जायेंगे।" यह बात सुनते ही स्वामी दयानन्द झुंझला कर
बोले—"आपके राज्य को तो मैं एक दौड़ में पार कर सकता
हूँ, परन्तु सर्वव्यापक भगवान् के राज्य में तो किसी भी प्रकार

बाहर नहीं जा सकता। आप स्मरण रखिए, प्रभु तथा वेद की आज्ञा के विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकता।

यह सुनकर महाराणा सज्जनसिंह लज्जित हो गए और क्षमा माँगने लगे।

क्षमाशील दयानन्द

जिन पाण्ड-पुरोहितों के रोजगारों में स्वामी जी के प्रचार से विघ्न पड़ता था, व स्वामी जी को समाप्त करने के उपाय ढूंढ़ते रहते थे। अनुपशहर में इसी उद्देश्य से एक ब्राह्मण ने स्वामी जी को पान में विष दे दिया। जब पेट में गड़बड़ आरम्भ हुई तो स्वामी जी ने न्योली कर्म[2] द्वारा पेट से विष निकाल दिया। वहाँ का तहसीलदार सैय्यद मुहम्मद स्वामी जी का भक्त था। उसने विष देने वाले ब्राह्मण को बन्दी बना लिया और प्रसन्न मन से स्वामी जी के पास पहुँचा। वह समझता था, स्वामी जी मेरे कार्य से सन्तुष्ट होंगे। परन्तु स्वामी जी उस पर रुष्ट होकर बोले—"आप विष दाता को मुक्त कर दीजिए। मैं संसार को बँधवाने के लिए नहीं, बन्धनों से मुक्त कराने आया हूं। यदि दुष्ट दुष्टता नहीं छोड़ते तो सज्जन सज्जनता को क्यों छोड़ें?" सैय्यद मुहम्मद स्वामी जी की क्षमाशीलता को देखकर दंग रह गया।

यथायोग्य का अर्थ

यह घटना यथायोग्य व्यवहार का उत्तम उदाहरण है। व्यवहार में व्यवहार करने वाले तथा जिसके प्रति व्यवहार

---

१. निम्नलिखित—नीचे लिखी हुई।

२. न्योली कर्म—योग की क्रिया, जिससे आँतें स्वच्छ कर ली जाती हैं।

किया जाता है, दोनों का ध्यान रखना उचित है। संन्यासी का धर्म क्षमा करना है। इसलिए स्वामी जी ने विषदाता को भी क्षमा कर दिया। यदि कोई मनुष्य किसी गृहस्थी को विष दे दे तो गृहस्थ का धर्म उसे दंड देना या दिलाना होगा। मनु महाराज ने कहा है—

> क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम्।
> अपराधिषु सत्वेषु नाराणां सैव दूषणम्॥

अर्थात्— शत्रु तथा मित्रों पर क्षमा करना, सन्यासियों के लिए तो शोभाशाली है, परन्तु अपराधियों, पापियों पर क्षमा करना सर्वसाधारण मनुष्यों के लिए अवगुण है।

इस प्रकार अपनी तथा दूसरे की अवस्था पर दृष्टि रखकर व्यवहार करना चाहिए। इसे ही यथायोग्य व्यवहार कहा जाता है।

—●—

पाठ 10

प्रभु प्राप्ति के साधन

(भाग 1)

यम और नियम

आपने अनेक बार यम और नियम शब्द सुने होंगे। यदि कोई आप से पूछे कि यम किसे कहते है, तो आप कहेंगे कि यम एक देवता है, उसे यमराज या धर्मराज कहते हैं। जो मनुष्य मर जाते हैं, उनकी आत्मा को यमराज के दूत (यमदूत) पकड़-कर ले जाते हैं, जिसने अच्छे कर्म किये हों उसे स्वर्ग में भेज दिया जाता है जिसने पाप कर्म किये हों, उसे नरक में; परन्तु यह बात ठीक नहीं। न कोई यमराज नाम का देवता है, जो आकाश में अपना दरबार लगाता है, न ऊपर कहीं स्वर्ग और नरक नाम के लोक बने हुए हैं, जिसमें सुख-ही-सुख या दुःख-ही-दुःख मिलता हो। सच्ची बात तो यह हैं कि परमात्मा का नाम यम है। हममें से जो अपने शुभ कर्मों के अनुसार सुख भोग रहे हैं, वे स्वर्ग में हैं, जो दुःख उठा रहे हैं, वे नरक में हैं, । सभी लोगों को कभी सुख मिलता है, कभी दुःख इसलिए हम स्वयं ही संसार में अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग और नरक में पड़ते रहते हैं।

यदि आप से नियम शब्द का अर्थ पूछा जाए, तो आप कहेंगे कोई कार्य करने की विधि या तरीका अथवा किसी सभा, समाज या विद्यालय आदि को ठीक ढ़ंग से चलाने के लिए बनाये

हुए असूल या सिद्धांत। आपका यह उत्तर ठीक है, परन्तु इस अध्याय में हम जिन यम नियमों की चर्चा करेंगे वे कुछ अलग प्रकार के हैं।

आपने पढ़ा होगा या सुना होगा कि हमारे देश में एक महर्षि थे--पातञ्जलि। उन्होंने योग दर्शन नाम का एक प्रसिद्ध शास्त्र में उन्होंने प्रभु की प्राप्ति के अनेक उपाय लिखें हैं। उसका आठ भागों म बँटें होने के कारण उसे 'अष्टाँग योग' कहा जाता है। इन आठ अगों में भी दो मुख्य माने गए हैं, क्योंकि इनके बिना प्रभु प्राप्ति नहीं हो सकती।

पाँच यम

महर्षि पातञ्जलि योग दर्शन के एक सूत्र में कहते हैं--
तत्र अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहा: यमः।

(साधन पाद सूत्र)

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच बातों को यम कहते हैं।

(क) अहिंसा

इस पद के दो भाग हैं-- 'अ' का अर्थ है 'न' और हिंसा का अर्थ है--मारना, सताना, कष्ट देना, बैर करना; इसलिए अहिंसा का अर्थ हुआ--न किसी को मारना, न किसी को सताना न किसी को दुःख देना, न किसी से बैर करना व रखना। मन, वचन और कर्म से किसी को कष्ट न पहुंचाना। किसी का मन से अनिष्ट सोचना हिंसा है। किसी को गाली देकर उनके हृदय को दुखाना हिंसा है। किसी को अस्त्र-शस्त्र द्वारा तथा अन्य किसी प्रकार चोट पहुंचाना अथवा किसी के प्राण ले लेना हिंसा है।

मनु महाराज ने कहा

आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ।

अर्थात् जो व्यवहार अपने लिए बुरा हो, वह दूसरों के साथ कदापि न करें। जैसे हम जीना चाहते हैं, वैसे दूसरे भी जीना चाहते हैं। यदि कोई हमें मारे-पीटे तो हमें दुःख होता है, इसी प्रकार दूसरों को भी दुःख होता है। महाराज श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

अर्थात्—हे अर्जुन ! जो मनुष्य अपने समान दूसरों को देखता है वह योगी है।

अहिंसा और हिंसा का अन्तर

वेद भगवान् ने कहा है—

(क) मधुमान अस्मि मधुमत्तमः—अवहन्मि अपघ्नतः ।
सुख वा यदि वा दुःख स योगी परमो मतः । (६-३२)

अर्थात्—मैं मीठा हूं, बल्कि अत्यन्त मीठा हूं, परन्तु मारने वालों को मैं कुचलता भी हूं।

(ख) मैं बिच्छू को पत्थर से और साँप को लाठी से मारता हूं।

(ग) यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पुरुषम् ।
त त्वां सोसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ।

(अथर्व० १.६४.४)

अर्थात्—अरे दुष्ट ! यदि तू हमारी गौओं, घोड़ों तथा पुरुषों को मारेगा, तो हम तुझे गोली से उड़ा देंगे।

(घ) महाराज श्रीकृष्ण ने कहा है—
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ॥ (४-८)

साधुओं की रक्षा करने के लिए और दुष्टों को मारने के

लिए मैं जन्म लेता हूं।

इससे स्पष्ट होता है कि पापियों, अत्याचारियों की हिंसा को अहिंसा ही कहते हैं। यदि कोई व्यक्ति हमारा धन हरण करने के लिए आये अथवा कोई विदेशी हमारे देश पर आक्रमण, करे, तो उन्हें तुरन्त मार देना हिंसा नहीं। हिंसा तो उसे कहते हैं जब किसी निरपराध व्यक्ति पर मन, वाणी अथवा कर्म से पाप किया जाये।

ऋग्वेद मडल ७ सूक्त ८६ मन्त्र ६ में परमात्मा से प्रार्थना की गई है—"हे परमात्मा यदि हमने किसी उत्तम व्यक्ति से द्रोह किया हो तो हम पर कृपा कर उस पाप से दूर करो।"

पापी पुरुषों को मारना अथवा उनको दंड देना तो परमात्मा की आज्ञा है। वह हिंसा नहीं, अहिंसा है।

सत्य

सत्य के स्वरूप के विषय में हमारे शास्त्रकारों ने लिखा है—

सत्यं वाचनिको धर्मः यथा दृष्टार्थवेदनम्।
उक्तार्थतश्च चलनमदमुक्तं मनीषिभिः॥

अर्थात्—सत्य वाणी का धर्म है—जैसा हमने सुना हो, जैसा देखा हो वैसा ही कह देना, जैसे अनुभव किया हो वैसे प्रकट करना सत्य कहलाता है। ऐसी वाणी को सत्य वाणी कहते हैं। अपने विश्वास के विपरीत, देखने और सुनने के प्रतिकूल कहना असत्य है। शास्त्रों में लिखा है—

मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्॥

अर्थात्—जिन लोगों का मन, वचन और कर्म एक नहीं वे पापी हैं। परन्तु जिन लोगों के मन, वचन और कर्म एक हैं, वे महात्मा पुरुष हैं।

नास्ति सत्यात् परो धर्मः नानृतात् पातकं महत् ।

(महाभारत)

अर्थात्—सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं और असत्य से बढ़कर कोई पाप नहीं ।

मनु महाराज ने असत्य भाषण करने वाले को चोर, अपने आप को धोखा देने वाला कहा है—

अन्यथा सन्तमात्मानन्, अन्यथा सत्सु भाषते ।
किं तेन न कृत पापं चौरेणात्मात्मापहारिणा ॥

अर्थात्—जिस मनुष्य के हृदय में तो कुछ और है; परन्तु लोगों के सामने कुछ और ही कह देता है । वह पापी तथा चोर है ।

सत्य भाषण से मनुष्य कई पापों से बच जाता है । सत्यवादी पर लोग विश्वास करते हैं । आर्य समाज का कोई सभासद् न्यायालय में गवाही के लिए जाता था, तो न्यायाधीश उस आर्य पुरुष की गवाही पर ही निर्णय कर दिया करता था, क्योंकि उसे विश्वास था कि वह व्यक्ति सत्यवादी है ।

उदाहरण अच्छी फर्में सदा सत्य का व्यवहार करती है । लोगों को उनके व्यवहार पर विश्वास होता है । यदि किसी औषधि के पैकेट पर जिस-जिस औषधि का मिश्रण जिस मात्रा में लिखा होता है, वह औषधि उस में अवश्य डाली जाती है, तो इसे सत्य व्यवहार कहते हैं ।

कई कम्पनियाँ झूठ-मूठ के विज्ञापन देकर लोगों को धोखा देती हैं, वह असत्य व्यवहार करती हैं । महाराज रामचन्द्र जी के

विषय में महाकवि बाल्मीकि ने लिखा है—

रामोद्धिर्नाभिभाषते ।

अर्थात्—श्री राम असत्य का भाषण कदापि नहीं करते । वाणी से वचन बोलकर उस पर आचरण करना, चाहे कितनी भी हानि उठानी पड़े उसे सह लेने वाला सत्यप्रतिज्ञ कहलाता है । श्रीराम ने कहा था—हे माता कैकेयी ! चन्द्रमा की कीर्ति भले ही क्षीण हो जाये, हिमालय पर आग के शोले उठने लगें, समुद्र भले अपनी सीमा का त्याग कर दे, परन्तु मैं अपनी प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ूंगा ।

महाराज हरिशचन्द्र ने वचनों का पालन करते हुए राज्य को तिलांजलि दे दी और अनेकों कष्ट सहन किये । महाराज भीष्म-पितामह जी ने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया । ये सभी पुरुष सत्य प्रतिज्ञ थे । महाराज दशरथ ने अपने पुत्रों और प्राणों को छोड़ दिया, किन्तु अपने वचन का पालन किया—

पुत्र प्राण दोनों तजे वचन न दीन्हों जान ।

मानव जीवन में सत्य की बड़ी महिमा है । मानव जीवन रूपी सरोवर का यह कमल है । जैसे रात्रि की शोभा चांद से है, वैसे ही मानव जीवन की शोभा सत्य से है । सत्य कमल है तो महापुरुष इनके भ्रमर हैं । महर्षि दयानन्द ने विष पिया, केवल इस सत्य के लिए । अनेकों कष्ट सहन किये केवल सत्य के लिए ।

वेद ने कहा है—

सत्यमेव जयते नानृतम् ।

अर्थात्—सदा सत्य की विजय होती है, झूठ की नहीं । मन की पवित्रता सत्य भाषण से होती है—जैसा कि महाराज मनु ने लिखा है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति ।

जल से शरीर और सत्य से मन पवित्र होता है। जो लोग असत्य का भाषण करते हैं, वे सदा भयभीत रहते हैं, किन्तु सत्यवादी सदा भय से मुक्त रहता है।

न्यायालयों में दी गवाहियाँ अधिकतम असत्य होती हैं। वे गीता, वेद तथा कुरान-शरीफ पर हाथ रख कर भी झूठी गवाही दे देते हैं। ऐसे पापियों के कारण राष्ट्र का न्याय रसातल को चला जाता है। राजनैतिक नेता अपने भाषणों में जनता को झूठे आश्वासन दिया करते हैं। विद्यार्थी अध्यापक के सामने तथा माता-पिता के सामने असत्य भाषण करते हैं। डाक्टर झूठे सर्टीफिकेट देते हैं। कई वक्ता सभाओं में झूठे विवरण दिया करते हैं। ऐसे लोग राष्ट्र के घातक कहलाते हैं।

कई लोगों का विचार है कि ऐसा असत्य भाषण करना पाप नहीं, जिससे अनेकों का भला हो अथवा किसी के प्राणों की रक्षा हो। कईयों ने पाँच विशेष स्थानों पर असत्य भाषण करना पाप नहीं माना। परन्तु तो भी सत्य तो सत्य ही है। असत्य कहने का स्वभाव पड़ जाने का भय है।

अस्तेय

'स्तेय' चोरी को कहते हैं और 'अस्तेय' चोरी न करने को। दूसरे की वस्तु को बिना उससे पूछे या बिना उसका मूल्य दिये ले लेना चोरी है। भले मनुष्य परिश्रम करते हैं, पसीना बहाते हैं, धन कमाते हैं, और उससे अनेक वस्तुएं खरीदते हैं। चोर रात को देखता है कि सब सोए हुए हैं, या दिन को देखता है कि बाहर ताला लगा हुआ है। वह चुपके से अन्दर घुस कर रुपया, गहना, कपड़ा आदि उठा ले जाता है। यदि वह धर्मपूर्वक

कमाता तो इतने रुपये, गहने, कपड़े आदि बनाने में उसे कई मास व कई वर्ष लग जाते; परन्तु चोर परिश्रम से जो चुराता है, इसलिए कोई काम-धंधा नहीं करता । वह निर्लज्ज होता है पकड़ा गया तो कैद काट आएगा। लोग बुरा-भला कहेंगे, कहते रहें। इसकी उसे चिन्ता नहीं। ऐसे आलसी, कामचोर और निर्लज्ज लोग मनुष्य समाज के शत्रु होते हैं। वे जोंको के समान दूसरों का लहु पीते हैं । इसलिए ऐसे बुरे काम से स्वयं सदा बचना चाहिए और जो चोर हों उन्हें प्यार व मार से सुधारने का अवश्य यत्न करना चाहिए । परन्तु चोरी का यही ढ़ग नहीं है। और भी अनेक प्रकार की चोरियाँ संसार में प्रचलित हैं. जैसे—जो घटिया माल को बढ़िया बतलाकर बेचता है, वह भी चोर है। जो बढ़िया वस्तु में घटिया वस्तु मिलाकर बेचता है वह भी चोर है। जो कम तोलता या कम नापता है, वह भी चोर है । बाबू कार्यालय में नियत घंटों से कम काम करता है, वह भी चोर है। जो पूरा समय काम करता हुआ भी पूरे उत्साह से काम नहीं करता वह भी चोर है।

चोरी के अन्य रूप

जो बिना ही आवश्यक कार्य के कार्यालय से छुट्टियां लेता है, वह भी चोर है। जो अध्यापक पूरे दिन मन से नहीं पढ़ाता, वह चोर है। जो विद्यार्थी अच्छा-भला होकर भी विद्यालय में नहीं जाता और जाता भी हैं तो पढ़ाई में मन नहीं लगाता, वह भी चोर है। भगवान् ने हमें शरीर; बुद्धि आदि पूरी तरह से काम करने को दी है,. जो खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने में तो सबसे आगे रहना चाहते हैं, और कर्त्तव्य का पालन करने में पीछे, ऐसे सचमुच चोर है । भगवान् हम पर कृपा करें। हम कभी

किसी प्रकार की चोरी न करें । वेद भगवान का यह उपदेश हमारे हृदयों पर लिखा रहे—

मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ।

(मनु० ४०-१)

ब्रह्मचर्य

परमात्मा की प्राप्ति के लिए तथा सांसारिक उन्नति के साधनों में महर्षि पातञ्जलि ने ब्रह्मचर्य को चौथा साधन माना है—

'ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं ?' हमारे देश के महान् वैद्य सुश्रुत ने लिखा है ।

रसाद् रक्तं ततो माँसं, माँसान्मेदः प्रजायते ।
मेदसास्थि ततो मज्जा, मज्जायाः शुक्रसम्भन ।।

(सुश्रुत अ० १४, ११)

अर्थात्—भोजन से रस, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से चर्बी, चर्बी से हड्डी, हड्डी से भीतर रहने वाला गूदा, गूदे से शुक्र (वीर्य) बनता है ।

हम जो भोजन खाते हैं, उसका अन्तिम तत्व वीर्य है । आपने भी सुना होगा कि महादेव वृषभ पर सवारी करता है । वह महादेव कोई व्यक्ति विशेष नहीं, जो पर्वत पर रहता है, बल्कि हमारी आत्मा ही इन्द्रिय आदि देवों का सबसे बड़ा देव महादेव है । वृषभ नाम वीर्य (शुक्र) तथा शरीर के महान् रस को कहते हैं । आत्मा इस वीर्य के द्वारा ही जीवन यात्रा करती

हैं । यदि इसकी (वीर्य) की शरीर में न्यूनता हो जाये, वीर्य अशक्त हो जाये, तो आत्मा परवश हो जाती है ।

यदि हम हृष्ट-पुष्ट होकर जीवन बिताना चाहते हैं तो हमें वीर्य की रक्षा करनी चाहिए । इस वीर्य की रक्षा को ब्रह्मचर्य कहा है ।

ब्रह्मचर्य का महत्त्व—

ब्रह्मचारी निरोग रहता है । जो लोग वीर्य की रक्षा करते हैं, उन्हें किसी प्रकार की व्याधि नहीं सताती । वे हृष्ट-पुष्ट रहते हैं । उनके शरीर में महान् स्फूर्ति होती है वे जीवन पर्यन्त अधीन रहते हैं । उनकी सभी इन्द्रियां उनके वश में रहती हैं । उनका काम, क्रोध. लोभ आदि पर पूरा अधिकार होता है । ब्रह्मचारी में अपूर्व शक्ति होती है । जालन्धर में व्याख्यान देते हुए महर्षि दयानन्द ने ब्रह्मचर्य की अद्‌भुत् शक्ति का वर्णन किया ! दूसरे दिन सरदार विक्रमसिंह ने वार्तालाप में कहा— "महाराज, आपनें कल के व्याख्यान में ब्रह्मचर्य के लिए अतिशयोक्ति से काम लिया था । देखें तो मान ।" स्वामी जी ने मुस्कराते हुए कहा— "देख भी लेना ।" एक दिन स्वामी जी ने विक्रम की दो घोड़ों वाली चलती हुई गाड़ी को पीछे से पकड़ कर रोक लिया, जिसे देख कर लोग चकित हो गए । स्वामी जी दो पहलवानों के हाथ अपनी दोनों कांखों में दबाकर नदी की धारा में उतर गये । उनके क्रंदन करनें पर इन्हें दया आ गई और उन्हें छोड़ दिया । महाराज हनुमान जी की विद्वत्ता की धाक लक्ष्मण भी मान गया था । वे महान् नीतिज्ञ, वेदशास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् तो थे ही बल्कि अद्‌भुत अद्वितीय योद्धा और तैराक भी थे । वे अकेले ही शत्रु के देश में घुसकर शत्रु का

मान-मर्दन कर लौटे थे। ये शक्तियाँ उन्हें ब्रह्मचर्य से प्राप्त हुई

थीं। भीष्म पितामह भी आजन्म ब्रह्मचारी रहे। वे इच्छा मृत्यु कहलाये। उन्होंने ज्ञान-विज्ञान तथा युद्ध कुशलता के कारण महत्ता प्राप्त की।

निरोगः कांतिसम्पन्नः सर्वदुखविवर्जितः।
ब्रह्मचारी भवेल्लोके, पापेन च वर्जितः॥

अर्थात्—ब्रह्मचारी का शरीर सदा निरोग तथा दुःखों से रहित होता है। उसके शरीर पर अद्भुत चमक होती है। वह कदापि किसी प्रकार का पाप नहीं करता।

ब्रह्मचर्य रक्षा नियम

वेदों और शास्त्रों में ब्रह्मचर्य की महत्ता का स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है।

ब्रह्मचर्येण देवाः मृत्युमुहाघ्नत। (अथर्ववेद १, ५, १९)

अर्थात्—ब्रह्मचर्य रूपी तप से विद्वान् लोग मृत्यु को जीत लेते हैं, जिस प्रकार तपस्वी के लिए कई एक नियम माने जाते हैं, इसी प्रकार ब्रह्मचर्य रूपी तपस्या के लिए भी अनेकों नियमों का पालन करना चाहिए।

१. विचारों की पवित्रता

ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक है कि वह अपने मन के संकल्पों को पवित्र रखे। नवयुवक कदापि मन में काम-वासनाओं को फटकने न दें। सुन्दर कन्याओं तथा सुन्दर नारियों की ओर आँख उठाकर कदापि न देखें। इसी प्रकार कन्याएं भी अपने मन में बुरे विचार को आने न दें। यदि किसी समय मन में दुर्भावनाएं

आ जाती हैं, तो तुरन्त उन्हें निकाल कर अपने मन को पवित्र करें। वेद भगवान नें कहा है—

अपेहि मनस्पाप किमनिय्यानि शंससि।

अर्थात्—हे पापी मन ! दूर हट, तू इसी प्रकार के पापपूर्ण विचारों को अपने अन्दर क्यों भर रहा है ? श्री रामचन्द्र जी के विषय में ऋषि बाल्मीकि ने लिखा है—

रामः परदारान् हि एक्षर्भ्यामपि न पश्यति।

अर्थात्—श्री रामचन्द्र जी पराई स्त्री को कभी आँख भर कर नहीं देखते थे।

२. सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय

ब्रह्मचारी प्रतिदिन उत्तम ग्रन्थों का स्वाध्याय करे, जिनके पढ़ने से उसके ब्रह्मचर्य की रक्षा में सहायता प्राप्त हो। जो विद्यार्थी गन्दे किस्से-कहानियाँ अथवा गन्दे उपन्यास पढ़ते हैं, उनका ब्रह्मचर्य खंडित हो जाता है और वे दुराचारी बन जाते हैं। कन्याएं भी इस प्रकार के साहित्य को पढ़ने से घृणा करें। वे वीर कन्याओं की जीवनियाँ पढ़ें।

३. कुदृश्य त्याग

बालक और बालिकाएं गन्दे सिनेमा कभी न देखें। उनके देखने से वे आचारहीन हो जायेंगे। प्रायः सिनेमा ही बालकों में आचारहीनता के भाव भर दिया करते हैं।

४. दैनिक व्यायाम

विद्वानों का मत है कि व्यायामशील बालक का जहाँ शरीर बलशाली होता है, वहाँ उसका मन भी बलशाली बन जाता है। बलवान मन में पापपूर्ण विचार जिनसे ब्रह्मचर्य नाश हो घुस नहीं सकते।

५. भोजन पर नियन्त्रण

अच्छा पौष्टिक भोजन बालक के लिए अत्यन्त लाभदायक है; परन्तु उनमें अधिक मिर्च तथा अधिक मसाले, अधिक खट्टे पदार्थों की न्यूनता होनी चाहिए।

इन नियमों का पालन करने से ब्रह्मचर्य की रक्षा हो सकती है।

अपरिग्रह -- (आवश्यकता से अधिक संग्रह करना)

'परिग्रह' का अर्थ है संग्रह, इकट्ठा करना। इसलिए 'अपरिग्रह' का अर्थ हुआ—संग्रह न करना। महर्षि पंतजलि ने इसे ईश्वर प्राप्ति का पांचवां साधन माना है। इसके अतिरिक्त परिग्रह समाज की मर्यादा को भंग करने वाला भी है।

ऋषि का अभिप्राय है कि यदि हम सुख और शान्ति चाहते हैं तो हमें कदापि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह नहीं करना चाहिए। हमारी आवश्यकताएं जितनी बढ़ेंगी, उतनी ही समाज में अशान्ति बढ़ेगी, उन अनुपयोगी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए हमें उस परिमाण से धन का भी संग्रह करना होगा। कई बार इस धन को प्राप्त करने के लिए हमें दूसरों से कुव्यवहार भी करना पड़ेगा इससे व्यवहार की पवित्रता नष्ट हो जायेगी। घूस का बाजार गर्म हो जायेगा। इस प्रकार परिग्रह पाप का मूल है।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि हम धन का संग्रह न करें। धन संग्रह सैंकड़ों प्रकार से करने का आदेश वेद भगवान् ने दिया है।

शत हस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।

(अथर्व 3, 24, 5)

अर्थात्—हे मानव ! सौ हाथों से धन का संग्रह कर, हजार हाथों से दान कर। संग्रह मत कर। जो भ्रष्टाचार से धन कमाते हैं। उस धन में से कुछ दान कर देते हैं। डाकू लोग डाका मार कर धन संग्रह करते हैं, उस धन का कुछ भाग बांट देते हैं इस प्रकार का दान पुण्य नहीं कहा जा सकता।

परिग्रह का दूसरा भाव व्यापारियों में देखा जाता है, जो कि समाज के लिए घातक है। व्यापारी लोग मंडियों से हजारों, लाखों रुपयों का माल खरीद कर अपने भंडारों में भर कर रख लेते हैं। मंडियों में उन वस्तुओं की न्यूनता होने से उनके कई गुना भाव बढ़ जाते हैं और दैनिक आवश्यकता की वस्तुएं दुर्लभ हो जाती हैं। इस परिग्रह (होरडिंग) से जनता के क्लेश बढ़ जाते हैं।

धनी परिवारों की महिलाओं में भी परिग्रह की भावना उग्र रूप से मिलती हैं। आवश्यकता से अधिक वस्त्रों का संग्रह कर लेती हैं। साड़ियां होते हुए भी नई साड़ियां खरीदती हैं और आवश्यकता न होने के कारण पेटियों में पड़ी-पड़ी पुरानी हो जाती हैं। इस आवश्यकता से अधिक वस्तुएं खरीदने से बाजार के भाव बढ़ जाते हैं और लोग दुःखी होते हैं।

आजकल धनी-मानी लोगों की नारियों में स्वर्ण आभूषणों का परिग्रह जोरों पर है। आभूषण बैंकों में पड़े रहते हैं। किसी काम में नहीं आते। वस्त्रों और आभूषणों की प्यास ने सर्व-साधारण जनता में दुःख के बीज बो दिये हैं। इसलिए उचित यही है कि उतनी ही वस्तुओं का संग्रह करें जितनी वस्तुओं के बिना हमारा काम न चल सके।

--:o:--

पाठ 11

आर्य-समाज और उसका कार्य

भाग (१)

आर्य समाज की स्थापना—

स्वामी विरजानन्द जी से विदा होकर स्वामी दयानन्द अनेक वर्षों तक जनता में वेदों का प्रचार करते रहे । बारह वर्ष तक उन्होंने भारत के भिन्न-भिन्न भागों में भ्रमण कर सहस्रों व्याख्यान और उपदेश दिये, दर्जनों शास्त्रार्थ किये और अनेक पुस्तकों की रचना की । अपने व्याख्यानों में वे सत्य को सन्मुख रखते थे । हिन्दू-मुसलमान, ईसाई आदि सभी धर्मों और सम्प्रदायों के मिथ्या विचारों का खण्डन करते थे और वैदिक विचारों का मंडन । उनके विचार सुधार की भावनाओं से पूर्ण थे और समय की आवश्यकताओं के अनुसार । इसलिए देश के विभिन्न स्थानों पर सहस्रों लोग स्वामी जी के भक्त बन गये । परन्तु उन सबकी दशा बिखरे फूलों की सी थी । स्वामी जी जब १८७४ ई० में प्रयाग से बम्बई पहुँचे, तब वहाँ अनेक सज्जनों ने उनसे एक संगठन बनाने की प्रार्थना की । कुछ देर विचार होता रहा । जब एक संगठन बनाने का निश्चय कर लिया गया, तब स्वामी जी ने उसे संगठन के लिए 'आर्य-समाज' नाम का सुझाव दिया । वेदों में श्रेष्ठ मनुष्यों को आर्य कहा गया है । प्रभु के पुत्रों को भी आर्य कहा जाता है । इसके पश्चात् स्वामी जी को

गुजरात, काठियावाड़ में प्रचार के लिए जाना पड़ा । कुछ मास उधर लग गये । जब लौटे तब चैत्र सुदी, ५, संख्या १९३२ वि० (१० अप्रैल १८७५ ई०) को गिरगाँव (बम्बई) में डा० मानिक चन्द की वाटिका में आर्य समाज की विधिवत स्थापना हुई ।

आर्य समाज का स्वरूप

आर्य समाज का स्वरूप इसके दस नियमों पर विचार करने से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है । पहले तथा दूसरे नियम से विदित होता है कि आर्य समाज उन लोगों का समाज है जो ईश्वर को मानते हैं तथा उसे निराकार मानते हैं । उनके मन में न ईश्वर की कोई मूर्ति है न वे उसके अवतार धारण करने को मानते हैं । तीसरा नियम हमें यह बताता है कि वेदों में ईश्वर का दिया हुआ ज्ञान है । इसलिए सब धर्म-ग्रन्थों में प्रथम स्थान उन्हीं का है तथा उन्हें पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना हमारा परम धर्म है । चौथे तथा पांचवें नियम में सत्य के ग्रहण तथा असत्य के त्याग की प्रेरणा की गई है तथा सत्य को ही धर्म कहा गया है । छठे नियम से ज्ञात होता है कि संसार का उपकार करना ही आर्य-समाज का मुख्य उद्देश्य है । सातवें, आठवें, नवें तथा दसवें नियम का सम्बन्ध लोक-व्यवहार से है । इन नियमों से यह प्रेरणा प्राप्त होती है कि हमें सबसे प्रेमपूर्वक धर्मानुसार यथा योग्य बर्ताव करना चाहिए । मन की अविद्या दूर करनी चाहिए, सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए तथा सबका भला करने वाले नियमों के पालन में परतन्त्र रहना चाहिए । इस प्रकार इन नियमों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि आर्य-समाज तंग दिल लोगों का पंथ या सम्प्रदाय नहीं है, अपितु उन अत्यन्त उदार सज्जनों का समाज है, जो ईश्वर तथा वेद

में दृढ़ विश्वास रख कर, ज्ञान का प्रसार करते हुए लोक-सेवा में अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हैं।

आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य

आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य छठे नियम में स्पष्ट किया गया है अर्थात् संसार का उपकार करना समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना। तात्पर्य यह है कि आर्य-सनाज संसार भर के लोगों के शरीर तथा आत्मा की उन्नति चाहता है और उनकी सामाजिक बुराइयों को दूर कर उन्हें प्रेम के एक सूत्र में बांधने का इच्छुक है।

आर्य समाज का कार्य

यद्यपि आर्य-समाज की स्थापना को केवल एक सौ वर्ष हुए हैं, तथापि उसने इस अल्प समय में संसार के उपकार का जो कार्य किया है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। वह कार्य, वाणी, लेखनी तथा संस्थाओं द्वारा किया गया है। इस कार्य को भली-भाँति समझने के लिए उसे तीन भागों में विभाजित करना उचित होगा—

१. शारीरिक कार्य
२. आत्मिक कार्य
३. सामाजिक कार्य

शारीरिक कार्य—

शरीर को स्वस्थ हृष्ट-पुष्ट तथा दीर्घायु बनाने का मुख्य साधन है ब्रह्मचर्य। आर्य समाज की स्थापना से पूर्व ब्रह्मचर्य

की ओर लोगों का ध्यान न था। छोटी अवस्था में बच्चों के विवाह कर दिये जाते थे। यही कारण था कि लोग दुबले-पतले थे तथा उनकी आयु प्रतिदिन न्यून होती जा रही थी। आर्य-समाज के विद्वानों, उपदेशों, व्याख्यानों तथा शास्त्रार्थों द्वारा जनता का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण विषय की ओर आकर्षित किया। इतना ही नहीं इन विषयों पर उत्तमोत्तम पुस्तकों की रचना की गई और पत्र-पत्रिकाओं में लेख भी लिखे गये। आर्य-समाज के मन्दिरों में अखाड़े खोले गये। डी० ए० वी० स्कूलों तथा कालेजों में उन विद्यार्थियों को प्रविष्ट न किया जाता था, जो विवाहित थे। इस मौखिक, लिखित तथा क्रियात्मक प्रचार का सुपरिणाम यह हुआ कि लोगों में जागृति उत्पन्न हो गई। वे समझ गये कि बाल-विवाह बल और बुद्धि का नाशक है और ब्रह्मचर्य का पालन सुख-स्वास्थ्य का साधन। आज हम देखते हैं कि अधिकतर लोग बड़ी आयु में विवाह करते हैं। यही कारण है कि देश के लोगों की आयु पहले की अपेक्षा पर्याप्त बढ़ गई है।

आत्मिक कार्य—

आत्मिक कार्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. बौद्धिक कार्य २. चरित्र निर्माण कार्य

1. बौद्धिक कार्य—

आर्य जाति ने बुद्धि के विकास को सदा सबसे ऊंचा स्थान दिया है। हमारे धर्म में गायत्री मंत्र को सर्वश्रेष्ठ मंत्र इसी लिए माना है कि उसमें भगवान से बुद्धि की पवित्रता की प्रार्थना की गई है।

मनु महाराज का कथन है —

बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ।

अर्थात्— बुद्धि की शुद्धि ज्ञान से होती है । आर्य-समाज का आठवाँ नियम भी विद्या की वृद्धि पर इन शब्दों से बल देता है— "अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए ।" विद्या की वृद्धि के लिए विद्यालयों की आवश्यकता है । आर्य-समाज की स्थापना से पूर्व कुछ स्कूल, कालेज सरकारी थे और कुछ ईसाईयों के । सरकारी स्कूलों में तो धर्म-शिक्षा दी ही नहीं जाती थी । हाँ, ईसाईयों की संस्थाओं में बाईबल आदि पढ़ाई जाती थी, जिससे हिन्दू बच्चे ईसाई धर्म की ओर झुक जाते थे और वैदिक धर्म से विमुख हो जाते थे । सहस्रों, लाखों लोग तो उन्हीं ईसाई संस्थाओं के कारण ईसाई बन भी चुके थे । यह देख कर आर्य-समाज ने, अपनी संस्थाएँ खोलने का निश्चय किया । सन् १८८६ में स्वामी दयानन्द जी के नाम पर लाहौर में पहला डी० ए० वी० स्कूल खोला गया, जिसे १८८६ में कालेज बना दिया गया इसके पश्चात् तो देश भर में डी०ए०वी० स्कूलों, कॉलेजों तथा गुरुकुलों का जाल बिछा दिया गया । जिसका वर्णन एक अन्य पाठ में किया गया है इन संस्थाओं का इतना प्रभाव पड़ा कि जो हिन्दू लोग अपने धर्म को सब से घटिया समझते थे, वही अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानने लग पड़े । आर्य-समाज की सब संस्थाओं में हिन्दी की पढ़ाई अनिवार्य होती है । इसलिए करोड़ों लोगों ने इन संस्थाओं से राष्ट्रभाषा सीखी ।

सच तो यह है कि शिक्षा के क्षेत्र में आर्य-समाज ने वह काम कर दिखाया है, जो कि भारत का कोई और धार्मिक सम्प्रदाय नहीं कर सका।

चरित्र निर्माण कार्य

इतिहास, भूगोल, गणित आदि विषयों का विद्वान् भी चरित्र हीन हो सकता है। चरित्र की शिक्षा तो धर्म-ग्रन्थों से ही प्राप्त होती है। जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं धर्म ग्रन्थों में सबसे ऊँचा स्थान वेदों का है। परन्तु आर्य-समाज से पूर्व तो सबको वेद पढ़ने की आज्ञा न थी। स्वामी दयानन्द जी ने आकर वेद भगवान् का यह मन्त्र जनता के सम्मुख रखा—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याम् शूद्राय चार्याय न स्वाय चारणाय च॥
(यजुर्वेद अ० २६, २)

इस मन्त्र का भावार्थ यह है कि—जैसे भगवान् कल्याण-कारी वेदवाणी का उपदेश ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, आर्य, अनार्य सबके लिए करते हैं वैसे ही हमें भी इसका प्रचार मनुष्य मात्र में करना चाहिए। कारण जिस प्रकार प्रभु द्वारा निमित सूर्य-चन्द्र, वायु जल आदि पदार्थ सबका हित करते हैं, वैसे ही प्रभु को वेदवाणी भी सबके लिये हितकारिणी है। उसके द्वार सभी के लिए खुले रहने चाहिए इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए जहां डी०ए०वी० संस्थाओं में सब विद्यार्थियों को धर्म-शिक्षा पढ़ाई जाती है, वहां अन्य लोगों को सदाचारी व धर्मात्मा बनाने के लिए अन्य कई उपायों को भी व्यवहार में लाया जाता है। उदाहरणार्थ—आर्य-समाज के मन्दिरों में दैनिक, साप्ताहिक,

वार्षिक सत्संग किए जाते हैं। उनमें विद्वान् लोग दैनिक शिक्षाओं की बहुत सुन्दर ढंग से व्याख्या करते हैं। विशेष पर्वों तथा मेलों आदि पर भी प्रचार का कार्य किया जाता है इन मौखिक कामों के अतिरिक्त आर्य-समाज ने अज्ञान के नाश, चरित्र में सुधार तथा धर्म के प्रचार के लिए सैंकड़ों, सहस्रों पुस्तक-पुस्तिकाएं भी लिखीं, जो लाखों लोगों का कल्याण कर रही हैं। आर्य-समाज की अनेक पत्रिकाएं भी अज्ञात अंधकार के नाश तथा चरित्र के विकास में पूर्ण सहयोग प्रदान कर रही है।

—: ● :—

पाठ 2

भजन

यज्ञ रूप प्रभु हमारे उज्ज्वल कीजिए ।
छोड़ देवें छल कपट को मानसिक बल दीजिए ॥

वेद की बोलें ऋचाएं सत्य को धारण करें ।
हर्ष में हों मग्न सारे शोक-सागर से तरें ॥

अश्वमेधादिक रचायें, यज्ञ पर उपकार को ।
धर्म-मर्यादा चला कर लाभ दें संसार को ॥

नित्य श्रद्धा भक्ति से यज्ञादि सब करते रहें ।
रोग पीड़ित विश्व के सन्ताप सब हरते रहें ॥

भावना मिट जाये मन से पाप अत्याचार की ।
कामनाएं पूर्ण होवें यज्ञ से नर नार की ॥

लाभकारी हो हवन हर प्राणधारी के लिए ।
वायु जल सर्वत्र हों शुभ गन्ध को धारण किए ॥

स्वार्थ-भाव मिटे हमारा प्रेम-पथ विस्तार हो ।
'इदं' न 'मम्' का सार्थक प्रत्येक में व्यवहार हो ॥

हाथ जोड़ झुकाय मस्तक, वंदना हम कर रहे ।
'नाथ' करुणा रूप करुणा आपकी सब पर रहे ॥

—: o :—

पाठ 13

सत्यार्थप्रकाश

आर्य-समाज के संस्थापक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी (१८२५-१८३४ ई०) उन्नीसवीं शताब्दी के महान् नेता तथा सुधारक थे। उन्होंने भारतीय जनता पर ही नहीं, प्रत्युत विश्व के सभी राष्ट्रों की विचारधारा पर क्रांतिकारी प्रभाव डाला। उन्होंने भारत के सभी राज्यों का भ्रमण कर सैंकड़ों व्याख्यान दिए अनेकों शास्त्रार्थ किये। लगभग तीन दर्जन पुस्तकों की रचना की।

उनके प्रमुख विचार निम्नलिखित हैं—

१. धर्म-सम्बन्धी

ईश्वर निराकार है। उसका अवतार नहीं होता। श्राद्ध मृतक पितरों के लिए नहीं, जीवित पितरों के लिए है। मूर्तिपूजा अवैदिक है।

२. वेद की महत्ता

धर्म ज्ञान के लिए वेद ही प्रमाण है। सभी वेदों को सत्य विद्याओं की पुस्तक बताया।

३. ऋषिकृत ग्रन्थ

ऋषि ग्रन्थ ही मान्य है, अतः मनुष्यकृत पाखण्ड का प्रचार करते हैं।

बाल विवाह, वृद्ध-विवाह, अनमेल बिमाह आदि का खंडन किया।

५. **संस्कार**

१६ संस्कारों का प्रचार किया।

६. **पाखण्ड-खण्डन**

शताब्दियों से चले आ रहे पाखण्डों की कलई खोल दी। जन्म-पत्री, भूत-प्रेत के भय मिटाये।

महर्षि के प्रसिद्ध ग्रन्थ

१. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका
२. यजुर्वेद भाष्य
३. सत्यार्थ प्रकाश
४. संस्कार विधि
५. पंच महायज्ञ विधि
६. आर्याभिविनय
७. आर्योद्देश्य रत्नमाला
८. गोकरुण-निधि
९. ऋग्वेद भाष्य

सत्यार्थ प्रकाश रचने का कारण

जब महर्षि दयानन्द भारत के कई राज्यों का भ्रमण करते हुए वाराणसी (काशी) में मई १८७४ ई० को पहुँचे, तो मुरादाबाद निवासी सामवेदी ब्राह्मण श्री राजा जयकृष्णदास जी डिप्टी-कलेकटर ने जो कि स्वामी जी के परम श्रद्धालु भक्त थे, प्रार्थना की—"महाराज ! आपके सत्यपूर्ण ज्ञानवर्धक तथा मधुर उपदेशों से वे ही लोग लाभ उठा सकते हैं जो उन्हें सुनते हैं। जो लोग आपके उपदेशों को सुनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सकते, उन तक आपका अमर उपदेश नहीं पहुँच पाता, अतः वे इन से लाभ नहीं उठा सकते। यदि आप अपने उपदेशों को पुस्तक के रूप में

प्रकाशित करा दें, तो आने वाली पीढ़ियों का भी महान् उपकार हो। इस ग्रन्थ के लिखवाने तथा छपवाने का सारा खर्च मैं करूंगा।"

स्वामी जी ने राजा जी की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और १२ जून, १८७४ ई० को सत्यार्थ प्रकाश लिखवाना प्रारम्भ कर दिया। स्वामी जी बोलते जाते थे और महाराष्ट्री पंडित श्री चन्द्रशेखर जी लिखते जाते थे। इस प्रकार समस्त 'सत्यार्थ-प्रकाश' लिखवा दिया गया। इसका पहला संस्करण अगले वर्ष १८७४ में छपकर तैयार हो गया। इसके प्रकाशित होने के साथ हिन्दू जगत् की विचारधारा में एक नया मोड़ आया।

सत्यार्थ-प्रकाश का अर्थ

महर्षि दयानन्द की सबसे प्रिय वस्तु यदि कोई थी तो वह थी सत्य। वे सत्य के मंडन और असत्य के खंडन के लिए अपनी जान को हथेली पर लिये फिरते थे। जिन विचारों तथा सिद्धान्तों को उन्होंने अच्छा समझा, उन सिद्धान्तों का बड़ी निर्भयता से प्रचार किया एवं जिन विचारों में जरा भी असत्य का अंश अथवा पाखंड देखा, उनका खंडन किया आर्य-समाज के नियमों में भी उन्होंने सत्य पर पूर्ण बल दिया। इसलिए उन्होंने बहुत सोच-विचार कर इस ग्रन्थ का नाम 'सत्यार्थ-प्रकाश' रखा। इस ग्रन्थ में सच्ची-सच्ची बातों का प्रकाश और असत्य एवं पाखंडमय विचारों का खंडन किया गया है।

सत्यार्थ-प्रकाश के लाभ

यदि हम जानना चाहें कि ससार भर के धर्मों में क्या सत्य है और क्या असत्य, तो सत्यार्थ-प्रकाश को ही पढ़ना चाहिए। यह

ग्रन्थ सोतों को जगाता है। भ्रम में फंसे हुए लोगों के भ्रम को मिटाता है। पाखडियों से मुक्ति दिलाता है। इसके पढ़ने से सभी विचारों को सोच-समझ कर ग्रहण करने को प्रेरणा मिलती है। आर्य संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा उत्पन्न होती है।

सत्यार्थ-प्रकाश और समुल्लास

इसके दो खंड हैं--१. पूर्वार्द्ध—अर्थात् पहला खंड। २. उत्तरार्द्ध—अर्थात् दूसरा खंड। पूर्वार्द्ध में दस समुल्लास और उत्तरार्द्ध में चार समुल्लास हैं। समुल्लास का अर्थ साधारणत: अध्याय है; परन्तु अध्याय के स्थान पर समुल्लास कहने में स्वामी जी के निम्नलिखित तात्पर्य हैं--

१. सम+उत्+लास्, इन खंडों से समुल्लास शब्द बना इसका अर्थ है –'सर्व प्रकार से सानन्दित कर देने वाला, इसके पढ़ने से ज्यों-ज्यों नये रहस्यों का ज्ञान होता है, त्यों-त्यों विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है।
२. समुल्लास का दूसरा अर्थ है, प्रकाशित होना, स्वयं चमकना तथा संसार के मतमतान्तरों द्वारा फैलाये अविद्या के अन्धकार को दूर करना। इस ग्रन्थ का प्रत्येक समुल्लास पाखंड, अविद्या के अन्धकार को मिटायेगा। समुल्लास का यही भावार्थ है।

पूर्वार्द्ध के दस समुल्लासों के विषय

अब हम सत्यार्थ प्रकाश के पहले दस समुल्लासों का संक्षिप्त विवरण देते हैं।

प्रथम समुल्लास

इस समुल्लास में स्वामी जी ने सिद्ध किया है कि—

(क) परमात्मा के सब नामों में उत्तम नाम 'ओ३म्' है।

(ख) परमात्मा के सहस्रों नाम हैं। वे सभी भिन्न-भिन्न गुणों के कारण हैं। जैसे कल्याणकारी एवं व्यापक होने से वह 'विष्णु' समस्त जगत का रचयिता होने से 'ब्रह्म' कहलाता है।

एकं सद् विप्रा बहुधाः वदन्ति ।

(ऋग्वेद 1, 164, 46)

एक ही भगवान का विद्वान् अनेक नामों से स्मरण करते हैं।

द्वितीय समुल्लास

(क) इसमें स्वामी जी ने बच्चों को शिक्षा के विषय में अनेक लाभदायक बातें लिखीं हैं।

(ख) इसमें भूत-प्रेत, जन्मपत्री, टेवा आदि का प्रबल खण्डन किया जाता है।

(ग) गणित ज्योतिष को तो स्वामी जी सत्य मानते हैं; परन्तु फलित ज्योतिष को मिथ्या।

तृतीय समुल्लास

(क) स्वामी जी ने इस समुल्लास में गायत्री मंत्र की व्याख्या करने के पश्चात् प्राणायाम करने की रीति बताई है।

(ख) इसके बाद संध्या तथा अग्निहोत्र करने की विधि और उनके लाभ लिखे हैं।

(ग) इसके पश्चात् उन्होंने ब्रह्मचर्य के महत्त्व पर प्रकाश डाला है।

(घ) यह बात विशेष ध्यान देने की है कि स्वामी जी ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि वेद के अनुसार प्रत्येक नर-नारी को वेद पढ़ने का अधिकार है।

चतुर्थ समुल्लास

(क) इनमें स्वामी जी ने दूर देश में विवाह करने की प्रशंसा तथा छोटी अवस्था में विवाह की निन्दा की है।

(ख) 25 वर्ष से कम आयु के पुरुष का तथा सोलह वर्ष से कम आयु की कन्या का विवाह नहीं होना चाहिए।

(ग) ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण जन्म से न मान कर गुण, कर्म स्वभाव के आधार पर माने हैं।

(घ) गृहस्थियों के लिए पाँचमहायज्ञ (संध्या, स्वाध्याय), हवन, वृद्धों की सेवा, अतिथि सेवा और पशु-पक्षियों का पोषण) करना आवश्यक कहा है।

(ङ) इन बातों के अतिरिक्त विद्वानों और मूर्खों के लक्षण, विद्यार्थियों के कर्त्तव्य, गृहस्थ आश्रम की श्रेष्ठता आदि का वर्णन किया।

पंचम समुल्लास

इसमें वानप्रस्थियों और संन्यासियों के कर्त्तव्य तथा कर्मों की चर्चा है।

इस समुल्लास का विषय राजनीतिक है । इसमें राजा, मंत्री, सेना, दुर्ग दण्ड आदि का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर किया गया है ।

सप्तम समुल्लास

इस समुल्लास में ईश्वर; जीव और वेदों के विषय में विस्तार से वर्णन किया गया है । ईश्वर की सत्ता सिद्ध की गई है तथा उसे निराकार कहा गया है । जीवात्मा को ईश्वर से अलग तथा कर्म करने में स्वतन्त्र माना गया है । यह भी बताया गया है कि भगवान् ने ही लोगों के कल्याण के लिए सृष्टि के आदि में ऋषियों को वेद का ज्ञान दिया था ।

अष्टम समुल्लास

इस समुल्लास में सृष्टि कब, कहाँ कैसे उत्पन्न हुई ? इन विषयों की चर्चा की गई है । वैदिक धर्म के अनुसार प्रकृति को ईश्वर से अलग सिद्ध किया गया है । ईश्वर को ही इस सृष्टि का कर्त्ता कहा गया है तथा आर्यदस्यु में भेद बतलाया गया है ।

नवम समुल्लास

इस समुल्लास में पहले विद्या और अविद्या का और उसके पश्चात् बन्धन और मोक्ष का स्वरुप बताया गया है । यह भी विस्तार से बताया गया है कि आत्मा जन्म-मरण के बन्धन में क्यों पड़ती है और किन साधनों से मुक्ति प्राप्त करती है । यह मुक्ति में क्या अनुभव करती है तथा कितने समय तक मुक्त रहकर फिर संसार में आती है ।

दशम समुल्लास

इस समुल्लास में आवरण कैसा होना चाहिए और कैसा नहीं, कौन-कौन से पदार्थ खाने चाहिए और कौन से नहीं, इन विषयों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

ग्यारहवां समुल्लास

इस समुल्लास में स्वामी जी ने स्वदेश में प्रचलित भिन्न-भिन्न मतों में स्वीकृत मिथ्या बातों का खंडन किया है। हरिद्वार रामेश्वर, सोमनाथ, द्वारिका, ज्वालामुखी, बद्रीनाथ, आदि की यात्रा से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती यह प्रतिपादन किया है। इसके अतिरिक्त तिलक, भस्म, रुद्राक्ष, गृहपूजा, मृतक श्राद्ध, मूर्तिपूजा, गुरुडम, एकादशी व्रत आदि को व्यर्थ कहा है।

बारहवां समुल्लास

इस समुल्लास में नास्तिक, चारवाक बौद्ध तथा जैन मतों की मिथ्या बातों का खंडन किया है।

तेरहवां समुल्लास

ईसाइयों की धर्म पुस्तक बाइबिल के तोरेत, जबूर, मत्ती, मार्क्स, लूका, मोहन्ना आदि अनेक भाग हैं। स्वामी जी ने इस समुल्लास में उन पुस्तकों में वर्णित असत्य बातों का खंडन किया है।

चौदहवां समुल्लास

अंतिम समुल्लास में मुसलमानों के धर्म ग्रंथ कुरान की आयतें देकर सिद्ध किया गया है कि यह पुस्तक ईश्वर की रची हुई नहीं है। कई लोग कहते है कि अल्लोपनिषद् अथर्ववेद का एक भाग है। उसमें अल्ला व मुहम्मद साहब की स्तुति है। स्वामी जी ने इस बात का प्रबल खंडन किया है।

चौदह समुल्लासों के पश्चात् स्वामी जी ने 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' नाम का 'परिशिष्ट' लिखा है। इसमें उन्होंने संक्षेप में उन सब बातों का वर्णन किया है जिन्हें वे मानते थे और जिन्हें नहीं। इसमें स्वामी जी ने ईश्वर, वेद, जीव, अनादि पदार्थ सृष्टि, बन्धन, मोक्ष, तीर्थ, पुराण, आर्य, यज्ञ, संसार आदि के सम्बन्ध में अपने विचार लिखे हैं। स्वामी जी ने लिखा है—"अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं, जिनको मैं भी मानता हूँ, सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ। मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ जो तीन काल में सबको एक-सा मानने योग्य हैं। मेरी कोई नवीन कल्पना व मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं हैं; किन्तु जो सत्य है, उनको मानना-मनवाना और जो असत्य है, उसको छोड़ना-छुड़वाना मुझको अभीष्ट है।

इस कथन से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द जी सत्य के अत्यन्त प्रेमी थे। उन्होंनें जो कुछ लिखा या कहा, वह सब कुछ सत्य प्रचार के लिए ही। इसलिए हम सब का कर्त्तव्य है कि शुद्ध मन से, पक्षपात त्याग कर, सत्यार्थ-प्रकाश को ध्यानपूर्वक पढ़ें। हम सबकी यही दैनिक प्रार्थना होनी चाहिए।

असतो मा सद्गमय। (शतपथ ब्राह्मण १४, ४, १, ३०)
हे भगवान्! आप हमें असत्य से सत्य की ओर ले चलें।

---

१. परिशिष्ट—जमीमा, बचा हुआ लेख।
२. पक्षपात—तरफदारी।

पाठ 4

प्रभु प्राप्ति के साधन

यम और नियम

(भाग 2)

पाँच नियम

पीछे हम पाँच यमों का स्वरूप स्पष्ट कर चुके हैं, इस पाठ में पाँच नियमों की चर्चा करेंगे।

शौचसन्तोषतपः स्वाध्ययेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।

(योगदर्शन, साधनपाद सूत्र ३)

अर्थ—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम हैं।

१. शौच

शुद्धि, स्वच्छता वा पवित्रता को शौच कहते हैं।

जीवन को सुखी, स्वस्थ तथा आनन्दमय बनाने के लिए पवित्रता की बहुत अधिक आवश्यकता है। पवित्रता को चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(क) तन की पवित्रता
(ख) मन की पवित्रता
(ग) बाहरी पवित्रता
(घ) घर की पवित्रता

(क) तन की पवित्रता

शरीर को स्वस्थ रखने के लिए उसे स्वच्छ रखना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए प्रतिदिन पेट की सफाई, दातुन, स्नानादि अवश्य करना चाहिए। मुंह, आंख, नाक, हाथ आदि को दिन में कई बार धोने-पोंछने से लाभ ही लाभ है।

भोजन व कोई अन्य वस्तु खाने-पीने से पहले और पीछे हाथ धोना और कुल्ला करना भी अच्छी आदतें हैं। वस्त्रों का साफ-सुथरा होना भी अत्यन्त आवश्यक है। जो लोग शरीर और वस्त्रों की स्वच्छता की ओर ध्यान नहीं देते, समाज में उनका सम्मान नहीं होता। इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य हर समय शरीर का बनाव शृंगार ही करता रहे। भाव यह है कि शरीर और वस्त्रों के प्रति लापरवाह नहीं होना चाहिए।

(ख) मन की पवित्रता—

ईर्ष्या, द्वेष, छल-कपट, झूठ आदि से मन पर मेल चढ़ती है। मन को स्वच्छ रखने का उपाय यही है कि मनुष्य कोई भी काम ऐसा न करे, जिसे करते समय मन उसे करने से मना करता हो। भगवान् ने हमारे अन्दर अन्तःकरण रूपी एक ऐसा सूक्ष्म यन्त्र लगा दिया है, जो अनुचित कार्य करते समय हमें रोकता है। जब भी हम उसकी आवाज को ठुकराते हैं, तभी हम पापी बन जाते हैं। इसके विपरीत दया, कृपा, क्षमा, परोपकार, सत्य आदि ऐसे गुण हैं जो मन को प्रसन्न और शान्त रखते हैं।

(ग) बाहरी पवित्रता—

बाहरी पवित्रता का अर्थ है घर, कार्यालय गली-मुहल्ले, नगर आदि की स्वच्छता। जिस घर में हम दिन-रात रहते हैं, जिस कार्यालय में हम आठ-दस घण्टे काम करते हैं, जिस गली, मुहल्ले, नगर में हमारा घर है, उन सबको स्वच्छ रखना

हमारा कर्त्तव्य है। इससे जहाँ हमारा मन प्रसन्न रहता है, वहां रोग भी नहीं फैलते। हम अधिक स्वस्थ और दीर्घायु होते हैं।

(घ) धन की पवित्रता—

अर्थात्—नैतिक कमाई। सच्चा परिश्रम तथा धर्मानुकूल धन का कमाना अर्थ-शौच कहा जाता है। दुराचार, दुर्व्यवसाय से धन कमाना महान् पाप है। श्रमिकों को भूखा रखकर, उनके परिवारों के सुख-सुविधा को ध्यान में न रखकर कमाया हुआ धन अपवित्र है। जो दुकानदार भ्रष्टाचार, (ब्लैक मार्किट) से धन कमाते हैं, उनका धन तो एक भयकर राक्षस है, जो समय आने पर धनी को ही निगल जाएगा। अतः धोखा देकर किसी के धन को हड़पना महापाप है।

मनु महाराज ने कहा है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौच परस्मृतम्।

अर्थात्— सभी पवित्रताओं में धन की पवित्रता मुख्य हैं। चाहे कोई कितना भी विद्वान् क्यों न हो, यदि उसकी कमाई पवित्र नहीं तो वह पापी है।

१. सन्तोष

सन्तोष का अर्थ है—प्रसन्न रहना। विजय हो या पराजय, हानि हो या लाभ, दुःख हो या सुख—सब अवस्थाओं में मन को प्रसन्न रखना ही सन्तोष है। कुछ लोग इसका उल्टा ही अर्थ समझते हैं, जैसा कि— मलूकदास ने कहा है—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गए, सबके दाता राम॥

अर्थात् - न सांप किसी की नौकरी करते हैं और न पक्षी

कोई व्यापार-धन्धा करते हैं। भगवान् जब उन्हें भी काम-धन्धा किए बिना अन्न, जल देता है, तो तुम्हें भी देगा ही। इसलिए काम-धन्धा व परिश्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं।

सन्तोष का अर्थ वह सर्वथा अशुद्ध है। स्मरण रखें कि भगवान् हर पक्षी को दाना तो देता है, परन्तु उनके घौंसले में नहीं डाल देता। सांप की भूख-प्यास भी बिल से बाहर निकल कर दौड़-धूप करने से ही मिटती है। इसलिए सन्तोष शब्द का सच्चा अर्थ यही है, कि मनुष्य जीवन भर काम करे, आलसी न बने, परन्तु कार्य करने पर भी कभी-कभी सफलता नहीं मिलती। बीच में कोई रुकावट पड़ जाती है। ऐसे समयों पर न आत्म-घात करें, न धैर्य को छोड़ें। भगवान् की इच्छा ऐसी ही थी यह समझकर मन को प्रसन्न रखें, यही सन्तोष है। यदि हाथ पर हाथ रखकर बैठने को ही सन्तोष कहते हैं तो भगवान् वेद में उपदेश न देता—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः।

(यजुर्वेद ४०, १२)

अर्थात्—मनुष्य काम करता हुआ ही सौ वर्ष जीवित रहने की इच्छा करे।

२. तप

किसी विशेष उद्देश्य को पूरा करने के लिए प्रसन्नतापूर्वक कष्ट सहने का नाम तप है अनेक लोग इस शब्द का अर्थ ठीक

---

१. दीर्घायु— लम्बी आयु वाले।

नहीं समझते । कई साधु एक टांग पर खड़े रहते हैं और दूसरी टांग को सुखा देते हैं । दूसरे सन्त एक बाहु को ऊँचा रखकर निकम्मा बना देते हैं । कई फकीर गर्मियों के दिनों में धूप में बैठकर चारों ओर आग जला लेते हैं इस प्रकार की क्रियाएँ निर्थक हैं, ढोंग हैं, पाखंड हैं। लोक-सेवा के कार्य करते हुए जो सर्दी-गर्मी, कष्ट-क्लेश आ पड़े, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सहना ही तप है । विद्यार्थियों का जीवन सुख-भोग का नहीं, तप का होना चाहिए ।

सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां, विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ।
सुखार्थिनः कुतो विद्या, सुखं विद्यार्थिन कुतः ।।
(चाणक्य नीति दर्पण १०।३)

चाणक्य ने कहा है—"जो विद्यार्थी विद्या पढ़ने के लिए तप नहीं करना चाहता, उसे विद्या का विचार छोड़ देना चाहिए । जो विद्यार्थी सुख चाहता है, उसे विद्या कहाँ और जो विद्या चाहता है, उसे सुख कहां ।"

विद्यार्थी के लिए तप यही है कि थोड़ा खाए, थोड़ा सोए, आलस्य-प्रमाद में समय नष्ट न करें और कम से कम समय में अधिक से अधिक विद्या ग्रहण करे। इस तप का मधुर फल उसे जीवन में अवश्य मिलेगा । उसे धन, मान, यश आदि किसी भी वस्तु की कमी न रहेगी ।

गृहस्थी का तप अपनें परिवार की सेवा में समय बिताना और इस कार्य में कष्ट सहन करना ही है ।

ब्राह्मण का तप वेदाध्ययन तथा धर्म प्रचार है ।

क्षत्रिय का तप देश-रक्षा करना है ।

वेदादि धर्म-शास्त्रों के नित्य नियमपूर्वक पाठ को स्वाध्याय कहते हैं। अच्छे ग्रन्थ अमृत के भण्डार होते हैं, तो बुरे ग्रन्थ विष के। यही सोच कर महर्षि पंतजलि ने स्वाध्याय को नियमों में स्थान दिया है। सब धर्म ग्रन्थों में वेद ही मुख्य है; क्योंकि प्रभु की प्रेरणा से वही सृष्टि के आदि महर्षियों के पवित्र हृदयों में प्रकट हुए थे। यही कारण है कि मनु जी ने भी लिखा है—

धर्मं जिज्ञासामानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।

(मनुस्मृति २, १३)

अर्थात्—जो लोग धर्म का स्वरूप समझने की इच्छा रखते हो, उनके लिए वेद सबसे श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। यों तो सत्य, दान, यज्ञ, परोपकार आदि अनेक कार्य धर्म है, परन्तु वेद का प्रतिदिन स्वाध्याय करना सबसे ऊँचा धर्म है। कहा भी है—

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथा कालमतन्द्रितः।
तंह्यस्याहुपर धर्मसुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(मनुस्मृति ४, १४७)

अर्थात्—नियत समय पर आलस्य त्याग कर सावधानी से प्रतिदिन वेदों का पाठ करें। मनुष्य का कोई परम (सबसे श्रेष्ठ) धर्म है तो यही है, शेष धर्म तो उपधर्म अर्थात् छोटे-छोटे धर्म हैं। स्वामी दयानन्द जी ने भी आर्य समाज के दस नियमों में तीसरा नियम यही बनाया—"वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना सुनाना, सब आर्यों का परम धर्म है।" आप कहेंगे कि वेद तो संस्कृत में हैं, कैसे पढ़ें? उत्तर यह है कि स्वामी दयानन्द जी ने ऋग्वेद-यजुर्वेद का हिन्दी में

अनुवाद कर दिया है और पिछले विद्वानों ने भी चारों वेदों को हिन्दी में अनुवाद कर दिये हैं। जब तक संस्कृत नहीं सीख लेते तब तक हिन्दी में ही पढ़ने चाहिए। ऋग्वेद शतक आदि नाम के चारों वेदों के चार गुटके छप चुके हैं, उनमें एक-एक वेद के सौ-सौ सरल सुन्दर मन्त्र दिए गए हैं। साथ ही हिन्दी में अर्थ भी हैं। उन्हें लेकर पढ़ना चाहिए। स्वामी दयानन्द, महात्मा गाँधी, स्वामी सर्वदानन्द आदि लोग पहले साधारण मनुष्य थे। धर्म ग्रन्थों के पाठ तथा आचरण से वे महापुरुष बन गये। हम भी अवश्य महान् बन सकते हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद् में स्वाध्याय तथा प्रवचन को अन्य सब कर्मों की अपेक्षा श्रैष्ठ कहा गया है। वेदादि सत्य शास्त्रों के अध्ययन को स्वाध्याय कहते हैं और पठित धर्म ग्रन्थों के सत्संगों में व्याख्यान करने को प्रवचन। उपनिषद् के मन्त्र निम्नलिखित हैं—

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च।
तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च॥
शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्न्यश्च स्वाध्यायप्रवचने च॥
अग्निहोत्र च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथ्यश्च स्वाध्यायप्रवचने च॥
मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च॥
प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च प्रजापतिश्च स्वाध्यायप्रवचने च॥
एवेति नामो मौदगल्यः॥ तद्धि तपस्त सिद्धतपः।

(तैत्तिरीयोपनिषद् ९-१)

अर्थात्—मनुष्य को सत्य ज्ञान होना चाहिए तथा उसे स्वाध्याय का प्रवचन भी करना चाहिए। मनुष्य को सत्य पर आचरण भी करना चाहिए और स्वाध्याय प्रवचन भी मनुष्य में

सहनशीलता भी होनी चाहिए तथा स्वाध्याय प्रवचन भी मनुष्य को जितेन्द्रिय भी होना चाहिए तथा स्वाध्यायशील और प्रनवच-शील भी मनुष्य में मन की शान्ति भी होनी चाहिए तथा स्वाध्याय प्रवचन भी। मनुष्य विविध यज्ञों की अग्नियाँ भी स्थापित करे तथा स्वाध्याय प्रवचन भी करें। मनुष्य को अग्नि होत्र भी करना चाहिए तथा स्वाध्याय प्रवचन भी। मनुष्य अतिथि सेवा भी करे और स्वाध्याय प्रवचन भी।

मुद्गल के पुत्र नाक नामक ऋषि का विचार तो यह है कि स्वाध्याय और प्रवचन ही सबसे उत्तम कर्म है। उन्हें ही करना चाहिए। वही तप है, वही सबसे उत्तम तप है।

ईश्वर प्रणिधान या पूजा

सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि लोक-लोकान्तरों तथा मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी प्राणियों को उत्पन्न करने वाला परमेश्वर ही है सृष्टि की रचना, पालन आदि करने वाला उस महान् परमात्मा में अपने मन कर्मों को नित्य लगाए रखना ही ईश्वर प्रणिधान है। उस भगवान् ने ही हमें सब प्राणियों से उत्तम मनुष्य शरीर दिया है। उसी ने हमें सोचने, बोलने तथा अपने कार्य करने की शक्ति प्रदान की है। हमारा कर्त्तव्य है कि उसे कभी मन से न भूले। उसे सर्वव्यापक जानकर अशुभ कर्म तो कोई करें ही नहीं जो शुभ कर्म करे, उसे भी प्रभु की आज्ञा जान कर ही करें। उसी की कृपा से हमारा हृदय दिन-रात गति करता है। उसी के नियम से सोते-जागते प्राण आता-जाता है। इसलिए दिन-भर जो भी शुभ कर्म करें, उनमें किसी प्रकार से अभिमान का भाव न आने दें। इसी प्रकार नम्रता का भाव धारण करके जीवन में आलस्य त्याग कर शुभ कर्म करते ही रहना चाहिए। जो कर्म

किया जाए उसे भगवान् को समर्पित कर दिया जाए। फल मिलना, न मिलना प्रभु के आधीन है। ईश्वर प्रणिधान को जगाने के लिए निम्नलिखित श्लोक का पाठ श्रद्धापूर्वक करना चाहिए—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

(व्याख्यान माला, पृष्ठ ४)

अर्थात्—हे परमेश्वर आप ही मेरी माता हैं और आप ही मेरे पिता। आप ही सम्बन्धी हैं और आप ही मेरी विद्या हैं और आप ही मेरा धन हैं। हे परमेश्वर ! मेरे तो सब कुछ आप ही हैं।

दूसरों की सेवा करना, दुःखियों के दुःख को दूर करना, असहायों का सहायक बनाना, विद्या रहितों को विद्या प्रदान करने के साधन जुटाना, अपनी सम्पत्ति को लोक-कल्याण के कार्यों में लगाना। ये सभी कार्य ईश्वर प्रणिधान के कार्य हैं। परमात्मा उसी पर प्रसन्न होता है, जो उसके पुत्रों से प्यार करता है।

—●—

पाठ 15

स्वामी दयानन्द का जीवन चरित्र

(भाग ३)

प्रार्थना का लाभ

स्वामी जी हरिद्वार के कुम्भ मेले पर वेद प्रचार कर रहे थे। लोग आते थे, प्रश्न पूछते थे और अपने सन्देह दूर करते थे। एक दिन रामसिंह नाम के एक वेदान्ती ने कहा—"आप ज्ञानी होकर भी भगवान् से भिखारियों के समान भीख माँगते हैं। यह अच्छी बात नहीं है।" स्वामी जी बोले—"ज्ञानी होने का अर्थ अभिमानी होना नहीं है। जैसे शरीर की भूख प्यास, अन्न-जल से शान्त होती है, वैसे ही आत्मा की निर्बलताएँ प्रार्थना से दूर होती हैं। इसलिए प्रार्थना तो ज्ञानी-अज्ञानी सभी को करनी चाहिए।

मूर्ति पूजा से हानि

एक सज्जन ने स्वामी जी से पूछा—"ईश्वर तो दिखाई नहीं देता। तब मूर्ति पूजा कर लिया करें तो क्या हानि ? स्वामी जी बोले—"ईश्वर की मूर्ति किसी भी मन्दिर में नहीं है। जितनी मूर्तियां हैं, सब बनावटी देवी-देवताओं की हैं। वे सब जड़ हैं। उन्हें भगवान् मानोगे तो भगवान् को भी जड़ अर्थात् ज्ञान-रहित मानना पड़ेगा। यदि कहो कि हम इसमें भगवान् की भावना कर लेते हैं तो भी ठीक नहीं। कोई मिट्टी के ढेले में मिश्री की भावना करे तो उसका मुंह मीठा नहीं हो जायेगा। भावना भी

सच्चाई से युक्त होनी चाहिए। मूर्ति पूजा ने भारत का सर्वनाश कर दिया है। धन, समय और शान्ति की जितनी हानि इससे हुई है किसी से नहीं।

प्रभु के गुणों का ध्यान

एक दिन प्रातः जब स्वामी जी ध्यान करके उठे तो उदयपुर के महाराजा ने पूछा—स्वामी जी ! जब ईश्वर का रंग रूप ही नहीं है, तब ध्यान किसका किया जाये ?" स्वामी जी बोले—"भगवान् ही सृष्ठि को रचने वाला है। इसे नियमों के अनुसार चलाने वाला है, कर्मों का फल देने वाला है, इस प्रकार भगवान् के कई गुण हैं। उन गुणों का ध्यान करके संसार की सेवा के लिए प्रार्थना ही सच्चा ध्यान है।"

आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म

आर्य लोग यह मानते हैं कि आत्मा को कर्मों के अनुसार अनेक शरीर प्राप्त होते हैं। परन्तु ईसाइयों तथा मुसलमानों आदि का यह विश्वास है कि उसे एक बार ही मनुष्य का शरीर प्राप्त होता है। एक बार लुधियाना में एक ईसाई ने स्वामी जी के पास आकर पूछा—"आप यह कह सकते हैं कि मरने के बाद आत्मा नया शरीर धारण करती है ?" स्वामी जी ने पूछा—'सोना-जागना, खाना-पीना, आनन्द मनाना क्या कभी शरीर के बिना हो सकता है ?" ईसाई बोला—"नहीं।" तब स्वामी जी ने कहा—"तुम यह मानते हो कि आत्माएँ स्वर्ग में ये सब काम करती हैं। इसलिए सिद्ध है कि उन्हें नया शरीर मिलता है। इसी

अमरता—मृत्यु से रहित होना।
पुनर्जन्म—बार-बार जन्म लेना।

को तो पुनर्जन्म कहते हैं।" यह सुनकर ईसाई चुप हो गया।

संसार सच्चा है झूठा नहीं

बहुत से लोग यह कहते हैं कि संसार स्वप्न के समान झूठा है वास्तव में ऐसा है तो नहीं; परन्तु अज्ञान के कारण दिखाई देता है। स्वामी दयानन्द इस बात को अशुद्ध मानते थे और कहते थे चाहे यह बनता और बिगड़ता तो है, परन्तु इसकी सत्ता अवश्य है। एक बार एक साधारण पढ़े लिखे वेदान्ती साधु ने आकर कहा—"महाराज ब्रह्म (भगवान्) ही सत्य है, जगत मिथ्या (झूठा) है।"

स्वामी जी—"क्या आप, आपके गुरु, आपके ग्रन्थ और आपकी बातें जगत् में है या जगत् के बाहर ?"

साधु—"ये सब वस्तुएं जगत् के अन्दर ही हैं।"

स्वामी जी—"जब आपके कथन के अनुसार ही आप और आपकी बातें झूठी है, तब मुझे और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं हैं।"

इस प्रकार स्वामी जी साधारण लोगों को साधारण बात-चीत से ही असाधारण बातें समझा दिया करते थे।

वेद ज्ञान सबके लिए है

स्वामी जी रुड़की में धर्म-प्रचार कर रहे थे। उनके व्याख्यान में एक मजहबी सिख भी आ बैठा। ये लोग अपनें हाथों में पशु-वध किया करते हैं। इसलिए लोग उनसे छूत-छात करते हैं और उन्हें वेद ज्ञान का अधिकारी नहीं मानते, इसलिए वह जहाँ बैठा था, वहाँ से उसे किसी ने उठा दिया। वह बेचारा जब

सत्ता विद्यमान होना, मौजूदगी।

दूसरी जगह बैठा तब वहाँ से किसी ने उसे उठ जाने को कहा। उसी समय स्वामी जी की दृष्टि उधर जा पड़ी। वे तुरन्त बोल उठे—"उन्हें वहीं बैठने दीजिए, वेद के ज्ञान का अधिकार मनुष्य मात्र को है। जैसे सूर्य-चन्द्र आदि का प्रकाश सबके लिए है, वैसे ही वेदों का ज्ञान भी।"

छूत-छात का नाश

एक बार बम्बई में स्वामी जी के डेरे पर एक बंगाली आ गया। उसकी लम्बी दाढ़ी के कारण पास बैठे सज्जनों ने उसे मुसलमान समझा। जब बातचीत करते-करते उसने पानी माँगा तो किसी ने उसे पत्ते के दोने में ला दिया। स्वामी जी को यह देख कर बहुत दुःख हुआ। वे डांट कर बोले—"तुम समीप आने वाले सज्जनों का इतना निरादर क्यों करते हो? क्या गिलास में पानी देने से गिलास अपवित्र हो जाता है? तुम्हारे ऐसे ही व्यवहार से तंग आकर तो लाखों-करोड़ों लोग दूसरे धर्मों में चले गये हैं; परन्तु वहाँ से आया एक भी नहीं।"

ईसाई की शुद्धि

स्वामी दयानन्द जी से पहले हिन्दू तो ईसाई, मुसलमान बन जाते थे; परन्तु मुसलमान, ईसाई, हिन्दू नहीं बनते थे। हिन्दू उन्हें अपने धर्म में लेते ही न थे। स्वामी जी ने यह अज्ञान दूर कर दिया।

खड्गसिंह नाम का पादरी बारह वर्ष से ईसाई हो चुका था, जब स्वामी जी अमृतसर में प्रचार कर रहे थे, तब उन्होंने ईसाई धर्म के दोष भी दिखाये। ईसाइयों ने खड्गसिंह को बुलाकर स्वामी जी के प्रश्नों का उत्तर देने को कहा। खड्गसिंह ने जाकर स्वामी जी से वार्तालाप किया। उससे स्वामी जी के

प्रश्नों का उत्तर न बन पाया। उसे ज्ञात हो गया कि मैंने ईसाई बनकर भूल की है। वह पुनः वैदिक धर्म में प्रविष्ट हो गया। इसी प्रकार कई अन्य लोग भी अपने प्राचीन धर्म में फिर वापिस लौट आये।

ब्रह्मचर्य में अपार शक्ति

(क) एक दिन ऋषि दयानन्द ने जालन्धर की एक सभा में व्याख्यान देते हुए महर्षि पंतजलि के योगदर्शन की व्याख्या करते हुए कहा --

"ब्रह्मचर्य से मनुष्य के शरीर में महान शक्ति उत्पन्न होती है।"

उस व्याख्यान को श्री विक्रमसिंह रईस भी सुन रहे थे। उन्होंने व्याख्यान की समाप्ति पर कहा—"महाराज हम तो ब्रह्मचर्य की महिमा देखेंगे तो मानेंगे।" स्वामी जी ने मुस्करा कर कहा—"देख लेना।"

एक दिन स्वामी जी कमण्डलु हाथ में लिए जा रहे थे कि उन्होंने विक्रमसिंह को गाड़ी में जाते हुए देखा। गाड़ी के आगे दो घोड़े जुते हुए थे। स्वामी जी ने झट उस गाड़ी को पीछे से पकड़ कर रोक लिया। सारथी ने कई चाबुक लगाई; परन्तु घोड़े आगे न बढ़ सके। श्री विक्रमसिंह ने पीछे की ओर देखा तो स्वामी जी को देखकर चकित रह गया। नीचे उतर कर कहने लगा—"सचमुच ब्रह्मचर्य में अनन्त शक्ति है।

(ख) स्वामी जी एक नदी के तट पर ध्यानावस्थित बैठे थे कि दो मुसलमान पहलवानों ने उन्हें नदी के प्रवाह में फेंकने के विचारों से उठा लिया। स्वामी जी सावधान हो गए। दोनों के हाथों को अपनी बगलों में दबाकर नदी की प्रवाह में ले जाकर उन्हें खूब गोते दिये। जब देखा कि ये निसहाय हो गये हैं, तब छोड़ दिया।

(ग) एक गाँव में लोग देवी के भक्त थे। उन्होंने स्वामी जी को बलि चढ़ाने के विचार से धोखे से अपने यहाँ निमन्त्रित किया और उनकी बलि चढ़ाने के लिए उद्यत हो गये। पहले तो उन्होंने सिंह गर्जना की, तत्पश्चात सभी को अपने बाहु बल से भूमि पर पटककर दीवार फाँदकर मकान से बाहर निकल आये।

साकार और निराकार

एक बार स्वामी दयानन्द जी बुलन्दशहर में कुछ प्रश्नों के उत्तर दे रहे थे, तो उनसे एक पौराणिक विचार वाले ब्राह्मण ने प्रश्न किया—"स्वामी जी ! आपने कई स्थानों पर ग्रन्थों में पढ़ा होगा कि परमात्मा के सगुण और निर्गुण दोनों स्वरूप हैं अर्थात् वह साकार है तो सगुण है। राम कृष्णादि सगुण परमात्मा के स्वरूप हैं।"

स्वामी जी ने उत्तर दिया— "ब्राह्मण देव ! सगुण का अर्थ है, गुणों वाला। जैसे परमात्मा की स्तुति करते हुए वेद ने कहा है 'शुक्रम, शुद्धम कवि', मनीषी, सृष्टिकर्त्ता आदि इन गुणों वाला ब्रह्म है।

अकायम्, अव्रणम् अपापविद्धम् ।

मन्त्र में काया, व्रण, पापविद्ध इन गुणों से रहित कहा गया है तो वह तो निर्गुण ब्रह्म है। अवतार कहलाने वाले व्यक्ति तो काया वाले फोड़े-फुंसी वाले थे।

—: ० :—

पाठ 16

स्वामी दयानन्द जी के उपदेश

ओ३म् यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है।

(सत्यार्थ-प्रकाश)

दीर्घ जीवन

मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण, चतुर्गुण आयु प्राप्त कर सकता है। अर्थात् चार सौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है।

(सत्यार्थ-प्रकाश)

जब तक तुम लोग जीते रहो, तब तक सदा सत्य कर्म में ही पुरुषार्थ करते रहो।

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका)

सदा सत्य भाषण

चाहे झूठ, अधर्म से चक्रवर्ती राज्य भी मिलता हो, तब भी धर्म को छोड़कर चक्रवर्ती राज्य भी ग्रहण न करें।

(संस्कार विधि)

श्रेष्ठ कर्म करते रहो

उत्तम कर्मों के आचरण से नाम की प्रसिद्धि करनी चाहिए, जिससे अन्य मनुष्यों का भी श्रेष्ठ कर्मों में उत्साह हो।

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका)

प्रतिज्ञा निभाओ

जैसी हानि प्रतिज्ञा को मिथ्या करने वाले की होती है, वैसी

अन्य किसी की नहीं। इससे जिसके साथ जैसी प्रतिज्ञा की, उसके साथ वैसी ही पूरी करनी चाहिए।

गुण-दोष का सुनना

सत्पुरुषों को योग्य है कि मुख के सामने दूसरे के दोष को कहना और अपना दोष सुनना। परोक्ष में दूसरे के गुण सदा कहना। (सत्यार्थ-प्रकाश)

धर्म की रक्षा करो

जिस सभा में अधर्म, असत्य से सत्य सब सभासदों के देखते हुए मारा जाता है, उस सभा में सब मृतक के समान हैं, जानो उनमें कोई भी नहीं जीता। (सत्यार्थ-प्रकाश)

शरीर बल की महिमा

शरीर बल का बिना बुद्धि बल के क्या लाभ? इसलिए शरीर-बल सम्पादन के लिए और उसकी रक्षा करने के लिए बहुत प्रयत्न करते रहना चाहिए। (पूना का व्याख्यान)

परमात्मा का जाप

परमेश्वर के नामों का अर्थ जानकर उसके गुण, कर्म स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म स्वभाव को बनाते रहना ही परमेश्वर का नाम स्मरण है।

उपकार का फल

जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार करेगा, उसको उतना ही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा।

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका)

गौ भक्ति

गाय का दूध व घी से जितना बुद्धि को लाभ होता है, उतना भैंस के दूध से नहीं। इससे आर्यों ने मुख्योपकारक गाय को माना है। (सत्यार्थ-प्रकाश)

सुख अधिक है

जो सृष्टि के सुख-दुःख की तुलना की जाए तो सुख कई गुना अधिक होता है। (सत्यार्थ-प्रकाश)

मित्र, मित्र के साथ सत्य व्यवहारों के समान प्रीति से बर्ते, परन्तु अधर्म के लिए नहीं। (व्यवहारभानु)

पड़ौसी के साथ सद्व्यवहार

पड़ौसी के साथ ऐसा बर्ताव करें कि जैसा अपने शरीर के लिए करते हैं। (व्यवहारभानु)

तीर्थ क्या है

वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का संग परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, निर्वैर, निष्कपट, सत्य-भाषण, माता-पिता की सेवा, परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, शान्ति, जितेन्द्रियता, सशीलता, धर्मयुक्त पुरुषार्थ, ज्ञान-विज्ञान आदि शुभ कर्म (ये सब) दुःखों से तारने वाले होने से तीर्थ हैं। (सत्यार्थ-प्रकाश)

प्राणायाम के लाभ

जब मनुष्य प्राणायाम करता है, तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश हो जाता है।
(सत्यार्थ-प्रकाश)

हवन के लाभ

पूर्वोक्त सुगन्धि युक्त चार प्रकार के द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके होम से जगत् का अत्यन्त उपकार होता है।

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका)

मद्यपान बुरा है

सज्जन लोगों को मद्य पीने का नाम भी न लेना चाहिए।

(सत्यार्थ-प्रकाश)

सौभाग्यवान देश

जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य, विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है, वही देश सौभाग्यवान् होता है।

(सत्यार्थ-प्रकाश)

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य

जहाँ विषयों की, अधर्म की चर्चा भी होती हो, वहाँ (ब्रह्मचारी) कभी खड़े भी न रहें। भोजन आदि ऐसी रीति से करें, जिससे कभी रोग, वीर्य हानि प्रमाद न होने पाए। जो बुद्धि के नाश करने वाले पदार्थ हों। उनको ग्रहण न करें।

(व्यवहारभानु)

विद्या का फल

विद्या का यही फल है कि हर मनुष्य को धार्मिक होना आवश्यक है। जिससे विद्या के प्रकाश से अच्छा जान कर न किया और बुरा जानकर न छोड़ा, तो क्या वह चोर के समान नहीं है ?

(व्यवहारभानु)

बालक के तीन गुरु

जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है।

वेद मन्त्रों का अर्थ ज्ञान

जब कोई पाठ मात्र ही पढ़ता है यह उत्तम सुख को प्राप्त कभी नहीं हो सकता। इस कारण से जो कुछ पढ़ें, तो अर्थ ज्ञान-पूर्वक ही पढ़ें। (ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका)

चरित्र का सुधारना, स्तुति का फल

जो केवल भाँड के समान परमेश्वर गुण कीर्तन करता है और अपने चरित्र को नहीं सुधारता, उसका स्तुति करना व्यर्थ है। (सत्यार्थ-प्रकाश)

विदेशी राज्य बुरा है

कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत मतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य; प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय, दया के साथ भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है। (सत्यार्थ-प्रकाश)

—●—

पाठ १७

आर्य-समाज और उसके कार्य

(भाग २)

सामाजिक कार्य

आर्य समाज का नौवाँ नियम है—"प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" यही कारण है कि आर्य समाज जिन बातों को अच्छा समझता है उन्हें आप ही धारण करके चुप नहीं बैठ जाता, बल्कि दूसरों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा करता है। इसी को सबकी उन्नति या सामाजिक उन्नति कहते हैं। आर्य समाज के मुख्य-मुख्य सामाजिक कार्य निम्नलिखित हैं—

(क) वर्णाश्रम सुधार,
(ख) स्त्रियों का सम्मान,
(ग) कुरीति निवारण,
(घ) विदेश यात्रा,
(ङ) शुद्धि,
(च) अछूतोद्धार,
(छ) लोक सेवा।

(क) वर्णाश्रम सुधार

प्राचीन काल में केवल चार वर्ण होते थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ये वर्ण जन्म से नहीं, बल्कि कर्म से माने जाते

थे। जो लोग पढ़ने-पढ़ाने आदि का काम करते थे—वे ब्राह्मण, जो देश के लिए युद्ध करते थे—क्षत्रीय, जो व्यापार, खेतीबाड़ी आदि करते थे—वे वैश्य और जो विद्या से सर्वथा हीन होकर शारीरिक काम करते थे—वे शूद्र कहलाते थे। जन्म से तो सब शूद्र होते थे; परन्तु ज्यों ज्यों उन्नति करते थे, त्यों त्यों उनका वर्ण बदलता जाता था। इसी बात को यों कहा भी गया है—

जन्मना जायते शूद्रः संस्कार भवेद द्विजः।

(राजबली हिन्दू संस्कार, पृष्ठ ३४)

अर्थात्—मनुष्य जन्म से तो शूद्र ही होता है; परन्तु अच्छे आचार-विचार द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि बन जाता है। व्यास पाराशर, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि जन्म से तो ब्राह्मण नहीं थे; परन्तु विद्या और पवित्र जीवन से ब्राह्मण बन गए। स्वामी दयानन्द के समय में यह रीति बदल चुकी थी। ब्राह्मण का बेटा ब्राह्मण, क्षत्रिय का पुत्र क्षत्रिय माना जाता था, चाहे उसमें विद्या, वीरता आदि गुण न हों। इसके अतिरिक्त, ब्राह्मण आदि वर्ण भी अनेक जातियों और उपजातियों में बंट चुके थे। एक जाति के लोग दूसरी जाति वालों के साथ खाते-पीते न थे न ब्याह शादी करते थे। इस प्रकार जाति भेद-भाव बढ़ गया। आर्य समाज ने जाति-पाति को तोड़ कर केवल गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर वर्ण मानने का विचार दिया।

प्राचीनकाल में जीवन के चार भाग किये जाते थे—ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। स्वामी जी के समय में जीवन के दो ही भाग प्रचलित थे। विवाह से पूर्व का जीवन और

विवाहित जीवन। जो निकम्मे, आलसी, मुर्ख लोग होते थे, वे वस्त्र रंगवा कर लाखों की संख्या में भीख मांगते फिरते थे। सच्चे साधू-महात्मा बहुत कम थे।

राँड़ मरी घर सम्पत नासी, मुड़ँमुड़ाय भये संन्यासी।

इसके अनुसार गृहस्थ धर्म को छोड़कर सन्यासी बन जाते थे। आर्य समाज ने आश्रमों को सुधारनें का यत्न किया। अब अनेक लोग गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ और उसके पश्चात् संन्यासी बनते हैं। आर्य समाज का कोई भी संन्यासी ऐसा नहीं होता, जो विद्वान न हो और वस्त्र रंगवाकर जनता को ठगता फिरता हो।

(ख) स्त्रियों का सम्मान

आर्य समाज के प्रचार से पूर्व स्त्रियों को कहीं-कहीं साधारण सी विद्या पढ़ाई जाती थी, न कि वेदादि की विद्या। पुरुष एक ही समय में अनेक स्त्रियों से विवाह कर लेता था। रंडवे लोग मरते दम तक विवाह करते जाते थे, परन्तु स्त्री बाल-विधवा हो जाती तो भी उसका फिर विवाह न किया जाता था। स्त्रियों को पर्दे में रखा जाता था। आर्य समाज ने कन्याओं को विद्या पढ़ाने के लिए पाठशालाएँ खोलीं तथा उन्हें जनेऊ पहननें और वेद पढ़नें का भी अधिकार दिया। छोटी आयु में होनें वाली विधवाओं के विवाह करवाये तथा स्त्रियों में पर्दे की रीति को मार भगाया।

(ग) कुरीति निवारण

जिस समय आर्य समाज मैदान में आया, उस समय विवाहों के अवसर पर वैश्याओं के नाच कराये जाते थे बहुत आतिशबाजी चलाई जाती थी, भारी दहेज लिया दिया जाता था और संस्कारों

पर सैंकड़ों रुपये उड़ा दिये जाते थे। इन बातों से विवाह आदि

के खर्च बहुत बढ़ गये थे और लोगों का उनके मारे नाक में दम हो रहा था; परन्तु इन कुरितियों को समाप्त करने का आर्य समाज ने प्रयत्न किया।

विदेश यात्रा

स्वामी दयानन्द के आगमन से पूर्व हमारे देशवासी विदेश यात्रा को पाप समझने लगे थे। पौराणिक ब्राह्मण यहाँ तक कहने लगे थे कि विदेश यात्रा से मनुष्य धर्महीन हो जाता है, अतः उसका जाति बहिष्कार होना चाहिए। इसी के आधार पर राजा राम मोहन राय तथा बाबू केशवचन्द्र सेन (ब्रह्म समाज के प्रवर्तक) को बंगाली ब्राह्मणों ने जाति-च्युत कर दिया था और उन्हें पापी समझकर अनेकों कष्ट दिये थे।

स्वामी दयानन्द जी महाराज ने सत्यार्थ प्रकाश में इस प्रकार के पाखण्ड का खण्डन करते हुए कहा—"प्राचीन काल में आर्य लोग विदेशों में जाकर व्यापार करते थे तथा विवाह आदि भी विदेशी लोगों से किये जाते थे। अर्जुन (पाण्डव) ने उलूपी नामक कन्या (अमेरिका) से विवाह किया। जिसे बभ्रुवाहन नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। ईरान की माद्री, पाण्डु की पत्नी थी। जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों में जाकर धर्म प्रचार किया अर्जुन और श्रीकृष्ण अग्नितरी द्वारा विदेशों में गये। विदेशी लोग भी युधिष्ठर के राजसूयं यज्ञ में भेंट देने के लिए आए। स्वामी जी ने पाखण्डियों को झिड़कते हुए कहा—'स्वार्थी ब्राह्मणों ने विदेशी यात्रा का इसलिए निषेध किया कि लोग कूप

मण्डूक बने रहें, अन्यथा हमारे पाखण्ड का रहस्य खुल जाएगा।

आजकल सहस्त्रों भारतीय विदेशों में जाकर अनेक प्रकार की विद्याओं को सीख रहे हैं। व्यापार द्वारा देश को उन्नत कर रहे हैं। यह भी कुछ आर्य समाज के प्रचार का फल है।

अन्य किसी में ऐसा करने का साहस न था। आर्य समाज ने इन बुरी प्रथाओं को दूर करने का बीड़ा उठाया और उसे बहुत कुछ सफलता मिली।

आर्य समाज से पूर्व लोग समझते थे कि तीर्थों में स्नान करने से, व्रत रखने से, माला पहनने से, टीका लगाने से, मुक्ति या स्वर्ग मिलता है, आर्य समाज ने कहा मुक्ति या स्वर्ग की प्राप्ति इन बातों से नहीं होती, बल्कि पवित्र आचरण से होती है। यदि तीर्थों में स्नान से ही मुक्ति हो तब तो मछली, मेंढक आदि मनुष्यों से भी पहले मुक्त हो जाएँगे।

शुद्धि

आर्य समाज से पहले ईसाई, मुसलमान हिन्दुओं को तो अपने मत में मिला लेते थे; परन्तु हिन्दू लोग उन्हें अपने धर्म में सम्मिलित न करते थे। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं की संख्या दिन-प्रतिदिन घटती जा रही थी। स्वामी दयानन्द जी ने सोचा की इस प्रकार तो संसार से वैदिक धर्म का नामों निशान ही मिट जाएगा। उनकी प्रेरणा से आर्य समाज ने शुद्धि का काम आरम्भ किया और लोगों को अपने धर्म में मिलाना आरम्भ किया।

अछूतोद्धार—

स्वामी जी महाराज की प्रेरणा से उनके दिवंगत होने के पश्चात् कई प्रकार की संस्थाओं की स्थापना की गई। स्वामी श्रद्धानन्द जी तथा महात्मा हंसराज जी ने मुसलमानों को शुद्ध करने का बीड़ा उठाया और शुद्धि-सभा का संगठन किया। आर्य मुसाफिर पं० लेखराम ने भी मुसलमानों की शुद्धि करते हुए अपने जीवन का बलिदान दिया उसी प्रकार प्रिंसीपल श्री महात्मा देवीचन्द्र जी ने दयानन्द साल्वेशन मिशन की स्थापना कर ईसाईयों की बढ़ती हुई शक्ति को रोक दिया।

भारत में ऐसे लोगों की संख्या लगभग आठ करोड़ है, जिन्हें हिन्दू लोग 'अछूत' कहते थे उनके हाथ का खाना तो दूर रहा उनके दर्शन करना भी पाप समझते थे वे लोग थे तो हिन्दू, परन्तु सवर्ण जातियों द्वारा उनसे पशुओं से भी नीच व्यवहार किया जाता था। वे हमारे कुंओं पर जल नहीं भर सकते थे उनसे छू जाने पर हिन्दू लोग स्नान किया करते थे वे सड़को पर भी नहीं चल सकते थे। धर्म स्थानों में उनके प्रवेश का निषेध था।

इस प्रकार के दीन-हीन तथा कथित अछूतों को सम्मान आर्य समाज ने ही प्राप्त कराया अन्यथा वे लोग धड़ाधड़ मुसलमान हो रहे थे अथवा ईसाई मत में प्रविष्ट होते जा रहे थे। आर्य समाज इस हानि को अथवा मनुष्य के प्रति घृणा को सहन न कर सका और उसने अछूतोद्धार के लिए कमर कस ली। स्यालकोट (अब पाकिस्तान), होशियारपुर आदि स्थानों में आर्य समाज ने अछूतोद्धार के केन्द्र खोल दिए। मेघोद्धार सभा का संचालन हुआ। इनसे मुख्य कार्यकर्त्ता श्री ठाकुरदत्त धवन (रिटायर्ड सैशन जज), लाला गंगाराम एडवोकेट तथा श्री चरणदास पुरी थे।

आर्य समाज ने डोम, बटवाल, मेघ, चमार, सईस, भंगी आदि जातियों को सभी समान अधिकार दिलवाये, पाठशालाएँ खुलवाई। अनेक अछूत नवयुवक ग्रेजूएट, वकील आदि बन गयें। घृणा के भाव को दूर कर अन्तर्जातीय सहभोज किए गए। पश्चात् इसी कार्य को महात्मा गाँधी जी ने कांग्रेस के कार्यक्रम में सम्मिलित कर लिया। आज देश की अछूत कहलाने वाली जातियां हिन्दुओं में सम्मान प्राप्त कर रही हैं।

लोक सेवा—

आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने अनेकों लेखों और उपदेशों द्वारा बताया कि मानव की सेवा वास्तव में परमात्मा की पूजा है इसलिए आर्य समाज किसी भी मनुष्य को दुःखित नहीं देख सकता। जब कभी अकाल से लोग पीड़ित होने लगते हैं अथवा भूचाल आता है, तो आर्य समाज अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए सेवा के क्षेत्र में उतर आता है। ऐसे समय में लाभ उठाने के लिए ईसाई पादरी लोग कष्ट में फँसे हुए लोगों को ईसाई बनानें में लग जाते हैं, परन्तु आर्य समाज लाखों हिन्दुओं को विधर्मी बनानें से बचा लेता है और उनकी संकट में रक्षा करता है।

(क) सन् १९०४ में काँगड़ा में भूचाल आया। महात्मा हंसराज जी के नेतृत्व में आर्य समाज ने महान् सेवा का कार्य करते हुए लोगों की रक्षा की।

(ख) कोहाट, मुसलमान, सहारनपुर, लाहौर में हिन्दू-मुसलमानों के साम्प्रदायिक दंगे हुए तो आर्य अमाज ने जनता की सेवा की।

(ग) जल बिहार, राजपूताना, उड़ीसा तथा मध्यप्रदेश अकाल से पीड़ित हो उठे, तो आर्य समाज ने प्रशंसनीय कार्य किया।

(घ) कोयटा (बिलोचिस्तान) में १९३५ में भयंकर भूचाल आया, तो डी० ए० वी० कालेज के प्रबन्धकों प्राध्यापकों तथा विद्यार्थियों ने लोक-सेवा के कार्य को अपनाया।

(ङ) मालाबार में मौपला लोग हिन्दुओं पर अकानुषित अत्याचार करके उन्हें विधर्मी बनानें लगे। वहाँ आर्य समाज ही हिन्दू जाति की ढाल बना।

(च) देश के विभाजन के समय भी आर्य समाज ने आवे वाले पीड़ित शरणार्थियों की अपूर्व सेवा की।

(छ) अभी १९६७ में दुर्भिक्ष लाखों लोग पीड़ित हो उठे, तो आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की अध्यक्षता में उन सूखा ग्रस्त राज्यों में स्तुत्य कार्य किया।

अनाथालय—

आर्य-समाज अनाथों की रक्षा का भी अपना कार्य समझता है। माता-पिता के मर जानें से कई परिवारों के बच्चे अनाथ हो जाते हैं। आर्य-समाज उन बालकों और बालिकाओं के लिए अनाथालयों का प्रबन्ध करता है। वहां उन अनाथ बच्चों को शिक्षित करता है, ताकि वे अच्छे नागरिक बन सकें तथा अपनी जीविका कमा सकें। अनाथ कन्याओं के विवाह सुयोग्य युवकों से किए जाते हैं। अन्धे बच्चों के लिए भी आश्रम खोले गये हैं, जहाँ अन्धे छात्रों को कई प्रकार के व्यवसाय सिखलाये जाते हैं और ब्रेला लिपि से पढ़ाया भी जाता है।

इन संस्थाओं में अनाथालय फिरोजपुर, केन्द्रीय अनाथालय दरियागंज, दिल्ली तथा विरजानन्द अन्ध कन्या विद्यालय राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार आर्य समाज की देख-रेख में अनेकों जन सेवा के कार्य चल रहे हैं।

आर्य समाज मानव सेवा को सबसे बड़ी ईश्वर पूज मानता है।

—:o8o:—

पाठ 18

राष्ट्र-निर्माता गाँधी जी

जन्म परिचय

भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत भूमि में कदापि महापुरुषों का अभाव नहीं रहा। राक्षसी प्रवृति को मिटाने के लिए राम आए, कंस जैसी दुरात्माओं का दमन करने के लिए श्री कृष्ण ने इस भूमि पर पदार्पण किया, वैदिक विचारों को लुप्त होते देख महर्षि दयानन्द ने वैदिक धर्म का उद्धार किया तो दासता की शृंखलाओं से जकड़ी हुई भारत भूमि को स्वतन्त्र कराने के लिए महापुरुष मोहनदास कर्मचन्द गांधी ने जन्म लिया, इस महापुरुष ने आनें से पूर्व समस्त आर्यावर्त ब्रिटिश शासकों के हाथ आ चुका था। मनमानें उपद्रवों का ताँता बंधा हुआ था। घर के मालिक घर के बाहर खड़े थे। विदेशी शासकों के विरुद्ध कुछ कहना जीवन से हाथ धोना था।

ऐसे समय में एक महान् आत्मा की आवश्यकता थी, जो सिर पर कफन बाँध कर विदेशी राज्य से मोर्चा लेता। प्रभु की अपार कृपा से पोरबन्दर काठियावाड़ में बसे हुए एक वैश्य कुल में एक बालक का २ अक्टूबर, १८६९ को जन्म हुआ। इनके पिता का नाम कर्मचन्द गांधी और माता का नाम पुतलीबाई था। पिता जी पोरबन्दर राज्य के मन्त्री थे। इनकी माता एक आदर्श भारतीय महिला थी। बालक का नाम मोहनदास कर्मचन्द गांधी रखा गया।

शिक्षा-दीक्षा

मोहनदास कर्मचन्द गांधी की शिक्षा-दीक्षा पोरबन्दर रियासत के स्कूल में हुई। वहां से हाई स्कूल की परीक्षा इन्होंने सन् १८५७ में उतीर्ण कर ली। इस शिक्षा काल में इनकी माता के आचार-व्यवहार का इन पर बहुत प्रभाव पड़ा। आपके हृदय में धर्म के प्रति महान् विश्वास उत्पन्न हो गया। जगन्नियन्ता परमात्मा पर आपकी अटूट श्रद्धा जमती गई। यह एक मानी हुई बात है कि सत्संगति की अपेक्षा कुसंगति का प्रभाव बालक पर शीघ्र पड़ता है। बालक मोहनदास को भी एक-दो मित्र मिल गये, जिनकी मित्रता से इन्हें बुरे कार्यों की ओर आकर्षित किया। कई बार पिताजी की जेब से पैसे चुराये। सोने का कड़ा बाजार में बेच दिया। सिगरेट पीने की भी आदत पड़नी लगी; परन्तु ये दुष्कर्म उनकी आत्मा को कोसते थे। वे दुःखी रहने लगे। उन्होंने सत्यवादी हरिशचन्द्र और श्रवण कुमार नाटक देखा, तो आपने सदा सत्य बोलने तथा मातृ-पितृ भक्त होने की मन ही मन प्रतिज्ञा कर ली। एक दिन मोहनदास ने सिसकिया भरते हुए अपने सभी दुष्कर्मों को अपने पूज्य पिताजी के सामने कह डाला, इनके सत्य भाषण से पिताजी अत्यन्त प्रसन्न हुए।

सत्यप्रियता के अनेकों उदाहरण इनके जीवन में देखे गए। एक बार स्कूल में इन्सपेक्टर साहब कक्षाओं की परीक्षा ले रहे थे। लड़के प्रायः नकल करने के अभ्यासी भी होते थे। इनके अध्यापक ने इन्हें अगले लड़के की नकल करने को कहा, परन्तु इन्होंने ऐसा करना पाप समझा।

उन दिनों छोटे-छोटे बच्चों का बिवाह कर दिया जाता था। इनका भी विवाह एक अत्यन्त सुन्दर वैश्य कन्या कस्तूरबा के साथ कर दिया गया। उस समय उनकी आयु १३ वर्ष की थी। क्या पता था कि छोटी-सी अवस्था में दम्पति भारत को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए किए गए संघर्ष में अपूर्व स्थान प्राप्त करेंगे। शिक्षा समाप्त होने पर पिताजी ने इन्हें बैरिस्टरी पढ़ने के लिए विलायत भेजने का निश्चय किया। उन दिनों लोग विदेश जाना पाप समझते थे। कुछ उपदेश देने के बाद इनकी माता ने अनुमति दे दी। चलने से पूर्व युवक मोहनदास कर्मचन्द ने निम्नलिखित प्रतिज्ञाएँ की—

१. मैं मांस नहीं खाऊँगा।
२. मैं मद्यपान नहीं करूंगा।
३. मैं विदेशी नारी से विवाह नहीं करूंगा।
४. सदाचरणपूर्ण जीवन बिताऊँगा।

मोहनदास कर्मचन्द गाँधी विलायत पहुँचा तथा वहां सदाचरणपूर्ण नियबद्ध जीवन बिताया। सन् १८९१ में बैरिस्टरी पास करके आप भारत को लौटे। बम्बई पहुँचने पर इन्हें ज्ञात हुआ कि पूज्य माता जी का देहान्त हो गया है। इनके हृदय पर गहरी चोट लगी। ऐसा अनुभव हुआ कि मानों उनकी जीवन ज्योति ही बुझ गई हो।

मोहनदास कर्मचन्द गाँधी जी पोरबन्दर में वकालत करने लगे, परन्तु भगवान् ने तो उन्हें एक और वकालत के लिए उत्पन्न किया था, जिसका अभी समय नहीं आया था। अचानक अवसर मिल गया। सेठ अब्दुल करीम का एक व्यापारी सम्बन्धी का अभियोग अफ्रीका में चल रहा था। उसके वकील बनकर हमारे भावी राष्ट्रपिता अफ्रीका पहुंचे। वह अभियोग तो समाप्त हो गया, परन्तु आप पत्नी सहित वहीं रहनें लग गये।

उन दिनों ब्रिटिश सत्ता के हाथों में वहाँ का शासन था। अधिकारियों का अभिमान बहुत बढ़ चुका था। वे शासन के नशे में दूसरे राष्ट्र के लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। हिन्दुस्तानियों को 'काला आदमी' कहकर पुकारते थे। सर्व-सधारण बाजारों में आये दिन इन्हें बूटों की ठोकरें लगाई जाती थी। अपमानजनक घटनाओं को सुनकर और देखकर मोहनदास कर्मचन्द गांधी के हृदय में दुःख की ज्वाला जलने लगी। वे इसे अमानवीय व्यवहार समझकर इस दुर्व्यवहार को दूर करने के लिए और मानव-पात्र की समानता के लिए कई साधनों पर विचार करनें लगे।

एक दिन आपको गाड़ी के प्रथम श्रेणी डिब्बे से अंग्रेज ने उतार दिया, आपका सामान प्लेटफार्म पर फेंक दिया और कहा—"भारतीय काला आदमी गोरी जाति के साथ नहीं बैठ सकता।" उनका हृदय उस समय क्रंदन कर उठा—"ओह! भारत का इतना अपमान! यह वर्ण भेद मैं मिटाकर ही छोड़ूंगा। सभी परमात्मा के पुत्र हैं। कोई किसी से बड़ा नहीं

कोई छोटा नहीं। इस प्रकार घृणा करने वाला व्यक्ति भगवान् के न्यायालय में अपराधी है।"

अफ्रीका में अनोखा असर

मोहनदास कर्मचन्द गाँधी जी इस अन्याय को धरातल से मिटाने के लिए संघर्ष के अखाड़े में खम ठोक कर उतर आये। वहाँ के निवासियों के स्वदेशाभिमान को जाग्रत किया। अंग्रेजों के वर्णाभिमान को कुचलने के लिए एक अपूर्व अस्त्र का निर्माण किया, वह था 'सत्याग्रह'। इस सत्याग्रह के द्वारा अफ्रीका के गोरे शासकों को कई क्रूर नियमों को बदलना पड़ा। गोरों के अत्याचारों से दुखित होकर जो कि भारतीय श्रमिकों पर किये जाते थे, गाँधी जी नें स्थान-स्थान पर सत्याग्रह किये और शासकों को मुंह की खानी पड़ी। इन सत्याग्रहों की कीर्ति भारत में पहुंची तो यहाँ की जनता में जागरण आनें लगा। सन् १८९६ ई० में आप स्वदेश को लौट आये। यहाँ पर किये जा रहे अत्याचारों को देखकर इनकी आत्मा कराह उठी। इन्होंने अपनें अद्‌भुत अस्त्र का प्रयोग किया; क्योंकि वे समझते थे उनका देश सशस्त्र क्रांति के लिए अशक्त था।

सत्याग्रहों का तांता

सन् १९१९ ई० में श्री गाँधी ने रौलेट ऐक्ट के विरुद्ध आन्दोलन किया और कई स्थानों पर असहयोग आन्दोलन में अंग्रेजों की शक्ति को खोखला कर दिया। सन् १९३०-३२ में नमक सत्याग्रह हुआ जिसका आरम्भ डांडी मार्च से हुआ। गांधी जी नें कई उपवास भी किये। विदेशी वस्त्र बहिष्कार कर मेनचेस्टर के व्यापारियों को परेशान कर दिया। १९४२

में जब द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हुआ तो आपने 'भारत छोड़ो आन्दोलन' शुरू कर दिया। इस आन्दोलन को दबाने के लिए अंग्रेजों ने भयंकर दमनचक्र चलाया परन्तु शासन की रीढ़ कड़कड़ाने लगी। इस आन्दोलन में हजारों देशभक्त कारागारों में ठूंसे गये; परन्तु आन्दोलन दिन प्रतिदिन ज्वाला के समान बढ़ता ही गया। निदान अंग्रेजों ने तंग आकर १५ अगस्त, १९४७ को भारत को दो भागों में बाँटकर शासन की बागडोर भारतीयों तथा पाकिस्तानियों के हाथ में दे दी। महात्मा गाँधी जी ने पाकिस्तानियों को अपने पाँवों पर खड़ा करने के लिए ५५ करोड़ रुपया भारत के कोष से दिलाया। इस उदारता से दुःखी होकर नाथूराम गोडसे ने प्रार्थना सभा में सम्मिलित होने के लिए जा रहे बापू गाँधी पर तीन गोलियां चलाईं और उनका ३० जनवरी, १९४८ को देहान्त हो गया।

—:●:—

पाठ १६

आर्यों के धर्म ग्रन्थ

धर्म ग्रन्थों का अभिप्राय

धर्म का अर्थ लोग यही मानते हैं कि जिससे हमारा परलोक सुधरे, हमारा जीवन चाहे परतन्त्रता में बीते अथवा दुःख में; परन्तु मरने के पश्चात् हम स्वर्ग में निवास करें। महर्षि दयानन्द धर्म का अर्थ ऐसा नहीं मानते थे। वे तो धर्म उसे कहते थे, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों मिलें। अर्थात् हमारा यह जीवन भी ऊँचा तथा धन-धान्य आदि से युक्त हो और हम सत्कर्मी, सत्य के प्रेमी, परमात्मा के उपासक हों और इनके आधार पर हमारा अगला जन्म भी सुधरे। अन्ततः हम मुक्ति को भी प्राप्त करें।

यही कारण है कि वेद में इस धर्म का निरूपण किया गया है। वेद के अनुकूल अन्य ऋषिकृत ग्रन्थ भी हैं जिनमें मानव के लिए जीवन के चार लक्ष्यों (उद्देश्यों) का विधान किया है—

१. धर्म २. अर्थ ३. काम ४. मोक्ष।

१. धर्म—धर्म का अर्थ है अभ्युदय (सांसारिक उन्नति) और निःश्रेयस (पारलौकिक कल्याण) को प्राप्त करना।
२. अर्थ—धर्म के आधार पर धनादि पदार्थों का संग्रह करना।
३. काम—धर्म द्वारा कमाये गए भोग्य पदार्थों द्वारा अपनी सुख सम्बन्धी तथा सदाचार युक्त इच्छाओं को पूर्ण करना।

४. मोक्ष—स्तुति, प्रार्थना, उपासना तथा ज्ञान से आत्मा और परमात्मा को जानकर जन्म-मरण के बन्धनों से महाप्रलय तक छूट जाना।

इस पुरुषार्थ चतुष्टय का ज्ञान देने वाले ग्रन्थों को धर्म ग्रन्थ कहा जाता है। जो जाति जितनी ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति करती जाती है उस जाति का साहित्य भी वैसा ही बढ़ता जाता है। इसलिए आर्य जाति के धर्म ग्रन्थ भी अधिक है, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. वेद, २. ब्राह्मण ग्रन्थ, ३. आरण्यक ग्रन्थ, ४. उपनिषद्, ५. वेदांग, ६. उपांग, ७. स्मृति ग्रन्थ, ८. स्वामी दयानन्द जी के ग्रन्थ।

धर्म ग्रन्थों के विषय

वेद—वेद का अर्थ है ज्ञान, जो सृष्टि के आदि काल में परमात्मा द्वारा ऋषियों के हृदयों में दिया गया था। वेद को चार भागों में बाँटा गया है—

१. ऋग्वेद, २. यजुर्वेद, ३. सामवेद, ४. अथर्ववेद। ये चारों वेद ज्ञान-विज्ञान के भंडार हैं। इन्हीं के ज्ञान से हम अपनी बुद्धि तथा अपने जीवन को समुन्नत कर सकते हैं।

वेद अपौरुषे (किसी पुरुष द्वारा न रचा हुआ) है

संसार के सभी ग्रन्थ मनुष्यों ने बनाये हैं; परन्तु वेदों का ज्ञान तो परमात्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्य मात्र के लिए दिया था। उसने वह ज्ञान चार ऋषियों के हृदय में प्रदान किया था, क्योंकि उत्पन्न होने वाले मनुष्यों में उनके पुण्य-कर्म सबसे अधिक तथा हृदय पवित्र थे। उन ऋषियों के नाम थे—

अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा। इन ऋषियों ने इस ज्ञान का प्रचार अन्य लोगों में किया। यह सभी कुछ उपदेश रूप से सुन-सुन कर हुआ, अतः वेदों को 'श्रुति' भी कहा जाता है।

निराकार ईश्वर ने ज्ञान दिया न कि ग्रन्थ

प्रश्न किया जा सकता है कि जो परमात्मा निराकार है, उसके हाथ, पाँव, नाक, कान, वाणी, सिर आदि कुछ भी नहीं था तो उसने किस प्रकार ऋषियों को ज्ञान दिया? हाथ से कैसे लिखा? अथवा मुंह से कैसे ज्ञान को सुनाया?

इसका उत्तर यह है कि माना कि ईश्वर अंगों रहित है, तथापि उसने ज्ञान प्रदान किया। वह ज्ञान स्वरूप है, अतः उसे सोचने की आवश्यकता नहीं। वेदों का ज्ञान न तो यह बोल कर देता है न ही लिख कर। वह तो सर्व व्यापक होने के कारण सबके हृदय तथा मस्तिष्क में विद्यमान है उदाहरणतः हमारी आत्मा शरीर के भीतर रहकर सभी अंगों का संचालन करती है, मस्तिष्क तथा हृदय को भी गतिशील करती है। परमात्मा समस्त ब्रह्माण्ड में निवास कर इसका परिचालन करता है, और ऋषियों के मस्तिष्क में भी विचारधारा के रूप में वेदों का ज्ञान देता है।

ऋषियों ने इस ज्ञान का प्रचार किया। धीरे-धीरे जब लोग वेद-विद्याओं से परिचित हो गए, तो कालान्तर में इस ज्ञान को पुस्तकों के रूप में लिख लिया गया।

धर्म के लिए वेद ही प्रमाण है—

मनु महाराज ने लिखा है—

धर्मं जिज्ञासमाहानानां प्रमाणं परम श्रुतिः।

(मनुस्मृति २, १३)

अर्थात्—धर्म ज्ञान के अभिलाषियों के लिए सर्वोत्तम ग्रंथ वेद हैं, । शेष ग्रंथ आदि वेदानुकूल हैं, तो उनको प्रमाण मानो अन्यथा नहीं; क्योंकि वेद स्वतः प्रमाण (अपने आप प्रमाण) हैं और अन्य ग्रंथ (ब्राह्मण, अरण्यक, उपनिषदादि) वेदानुकूल होने परतः प्रमाण माने जाते हैं ।

ऋग्वेद—

ऋग्वेद का अर्थ ऋचाओं का वेद । ऋचा का अर्थ है श्लोक या छन्दों में लिखा हुआ वाक्य । ऋग्वेद गद्य में नहीं, पद्यों में है, इसलिए इसे ऋग्वेद का नाम दिया गया है । इसे दस विभागों में बाँटा गया है जिन्हें मण्डल कहते हैं । प्रत्येक मण्डल में अनेक सूक्त (पैरे) हैं । प्रत्येक सूक्त में अनेक मंत्र या पद्यबद्ध वाक्य हैं । इस प्रकार ऋग्वेद में कुल १० मण्डल हैं, १०२८ सूक्त हैं और १०५८९ मंत्र हैं । ऋग्वेद में भगवान् की इन्द्र, वरुण, यम आदि अनेक नामों से स्तुति की गई है तथा अनेक प्रकार के कल्याण-कारी उपदेश दिये गये हैं । सृष्टि की रचना, ईश्वर महत्ता अनेक प्रकार के विज्ञान भी हैं ।

यजुर्वेद—

'यजु' शब्द का अर्थ देव पूजा और यज्ञ है । कहीं-कहीं गद्य को भी 'यजु' कहा गया है । यजुर्वेद में ४० अध्याय हैं और १९७५ मंत्र हैं । यह मंत्र गद्य और पद्य दोनों में हैं । इस वेद के मन्त्रों में भगवान् की स्तुति भी है और दर्श-पौर्णमास, अग्निहोत्र आदि अनेक यज्ञों का वर्णन भी इसी वेद के चालीसवें अध्याय को 'ईशोपनिषद्' कहा जाता है । उसमें परमात्मा के स्वरूप का बहुत ही सुन्दर वर्णन है ।

सामवेद

सामवेद का अर्थ है नीति उत्पन्न करने वाले वचन। गीत को भी साम कहा जाता है। सामवेद के दो भाग हैं, जिन्हें पूर्वार्चित और उत्तरार्चित कहते हैं। इस वेद में ९ प्रपाठक, २९ अध्याय और १८७५ मंत्र हैं। इस वेद के मंत्रों का यज्ञ आदि के पवित्र अवसरों पर मधुर स्वर से गान किया जाता है। जिनमें ईश्वर की स्तुति है और व्यवहार शास्त्र का भी ज्ञान है।

अथर्ववेद

इस वेद के मंत्रों का दर्शन (हृदय में अनुभव) सबसे पहले अथर्वण ऋषि ने किया था, इसलिए इसे अथर्ववेद कहते हैं। अथर्ववेद में २० कांड ७६० सूक्त, और ६०२७ मंत्र हैं। इस वेद में लोक तथा परलोक से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान भरा पड़ा है। इसमें देशभक्ति, रोग शान्ति, वीर पुरुष, अनन्त सुख, राजा प्रजा आदि अनेक विषयों पर बहुत सुन्दर मंत्र लिखित हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ

ब्राह्मण शब्द 'ब्राह्मान' शब्द से निकलता है 'ब्राह्माण' शब्द का अर्थ ईश्वर और वेद ही नहीं, यज्ञ भी होता है। इसलिए जिन ग्रन्थों में यज्ञ करने की रीति का विस्तृत वर्णन हो उन्हें ब्राह्मण ग्रंथ कहा गया है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि यज्ञ ब्राह्मणों द्वारा कराये जाते थे, इसलिये इन ग्रंथों को ब्राह्मण ग्रंथ कहा जाता है।

प्राचीन काल में ब्राह्मण ग्रन्थ बहुत अधिक संख्या में पाए जाते थे; परन्तु आजकल तो डेढ़ दर्जन के लगभग ही प्राप्त हैं।

प्रत्येक वेद के अलग-अलग ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। जैसे ऋग्वेद का ऐतरेय ब्राह्मण। यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण। सामवेद का ताण्ड्य या पंचविशः ब्राह्मण और अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण।

इनमें वेद के समस्या वाले शब्दों की व्याख्या भी है, यथा अश्वमेध आदि।

ब्राह्मण ग्रन्थों में गृहस्थी द्वारा किए जाने योग्य यज्ञों का वर्णन है। इनमें अनेक प्राचीन राजाओं (दुष्यन्त, भरत, हरिश्चन्द्र जनमेजय आदि) तथा ऋषियों की सुन्दर कथाएं हैं। इसमें आत्मा की नित्यता, ब्रह्मचर्य यज्ञ, प्रायश्चितः स्वास्थय तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र के कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन पाया जाता है, छोटी-छोटी कथाएं वेदों के रहस्यों को खोलकर स्पष्ट करती हैं जिनके वेदार्थं समझ में आ जाता है।

आरण्यक

आरण्यक शब्द अरण्य से निकलता है। अरण्य वन को कहते हैं। वन में रहने वाले (वानप्रस्थियों) द्वारा किये जाने वाले यज्ञों का वर्णन इन ग्रन्थों में पाया जाता है; इनमें यज्ञों के रहस्य या गुप्त अर्थं बताए गए हैं, प्राचीन काल में बहुत से आरण्यक ग्रन्थ थे, परन्तु आजकल तो सात ही प्राप्त है; जैसे ऐतरेय आरण्यक, छान्दोग्यक आदि। इनमें आत्मा इन्द्रिय सम्बन्धी रहस्यों को कथाओं द्वारा प्रकट किया गया है।

उपनिषद्

उपनिषद् का अर्थं है प्रभु के पास बैठने वाला ज्ञान। इन्हें ही

ब्रह्मविद्या और वेदान्त पराविद्या, मोक्षविद्या, शान्तिविद्या और श्रेष्ठ विद्या कहा जाता है। सुन्दर सरल दृष्टान्तों के द्वारा ईश्वर के स्वरूप को जितनी अच्छी तरह इन ग्रन्थों में समझाया गया है, उतनी अच्छी तरह अन्य ग्रन्थों में नहीं। उपनिषदों की संख्या २२० के लगभग मानी जाती है; उनमें से निम्नलिखित ग्यारह उपनिषद् मुख्य हैं—

१. ईशोपनिषद्	२. केनोपनिषद्	३. कठोपनिषद्
४. मुण्डकोपनिषद्	५. प्रश्नोपनिषद्	६. माण्डुक्योपनिषद्
७. ऐतरेयोपनिषद्	८. तैत्तिरीयोपनिषद्	९. छान्दोग्योपनिषद्
१०. वृहदारण्यकोपनिषद्	११. श्वेताश्वतोरोपनिषद्	

जैसे ब्राह्मण ग्रन्थों और आरण्यकों का सम्बन्ध वेद से है, वैसे ही उपनिषदों का भी है।

स्वामी शंकराचार्य, रामानुज, बल्लभ, मध्व आदि अनेक आचार्यों ने इन पर संस्कृत में टीकाएं लिखी हैं। दारा शिकोह ने अनेक उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद कराया था। शोपेनहावर मेक्समूलर, मेक्डोनल आदि विद्वानों ने उपनिषदों के पवित्र ज्ञान की बहुत अधिक प्रशंसा की है।

अंग या वेदांग

वेदों के अर्थ तब तक ठीक-ठाक समझ में नहीं आते, जब तक मनुष्य को वेदांगों का ज्ञान न हो। वेद के निम्नलिखित छः वेदांग माने जाते हैं—

१-शिक्षा	२-कल्प	३-व्याकरण
४-निरुक्त	५-छन्द	६-ज्योतिष

शिक्षा

शिक्षा ग्रन्थों में वेदों के ठीक-ठीक उच्चारण की विधियां बताई

गई हैं। यज्ञ तथा संस्कार किस प्रकार करना चाहिए, इस बात का उल्लेख कल्प ग्रन्थों में किया गया है। वेदों के शब्दों की रचना का ज्ञान व्याकरण ग्रन्थों से तथा वेद के अर्थों का वास्तविक ज्ञान निरुक्त से होता है। छन्द ग्रन्थ हमें वेदों के छन्दों के लक्षण बताते हैं तथा ज्योतिष के ग्रन्थ यज्ञादि करने के उचित ढंग बताते हैं तथा इनमें सूर्य, पृथ्वी, चन्द्र तथा अन्य तारागण, सौरमण्डल की गति, ग्रहण आदि का वर्णन है।

उपांग

जैसे वेदों के छः अंग हैं वैसे ही छः उपांग हैं। छः उपांगों को ही छः दर्शन कहते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१. कपिल मुनि का सांख्य दर्शन,
२. पतंजलि का योग दर्शन,
३. गौतम का न्याय दर्शन,
४. कणाद का वैशेषिक दर्शन,
५. जैमिनी का पूर्वमीमांसा दर्शन,
६. व्यास का वेदांत दर्शन (उत्तर मीमाँसा)

इन दर्शनों में परमात्मा, आत्मा, मन, पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, आकाश, काल, दिशा आदि पदार्थों का बहुत गम्भीर वर्णन किया गया है। ईश्वर ने जगत् को क्यों और कैसे बनाया मृत्यु के बाद जन्म होता है या नहीं, सत्य और मिथ्या बात की परीक्षा कैसे की जाती है, इत्यादि प्रश्नों पर इन ग्रन्थों में बहुत गम्भीरता से विचार किया गया है।

स्मृति आदि

मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि दर्जनों स्मृति ग्रन्थ हैं, जिनकी रचना समय-समय पर होती रही है। इनमें चारों

वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्य तथा राजनियम आदि का उल्लेख है। इनमें मनुस्मृति सबसे उत्तम है।

स्वामी दयानन्द जी के ग्रंथ

इन प्राचीन धर्म ग्रन्थों के अतिरिक्त आर्य समाज स्वामी दयानन्द जी के ग्रन्थों को भी धर्म ग्रन्थ मानता है। स्वामी दयानन्द जी के तीन दर्जन के लगभग ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। जिनमें से मुख्य हैं –

१. ऋग्वेद का भाष्य

स्वामी जी की अकाल मृत्यु के कारण यह भाष्य अधूरा ही रह गया था।

२. यजुर्वेद का भाष्य

यह भाष्य सम्पूर्ण यजुर्वेद पर है। दोनों वेदों का भाष्य संस्कृत तथा हिन्दी भाषाओं में है। सामवेद तथा अथर्ववेद पर स्वामी जी भाष्य नहीं कर पाये। स्वामी जी के इन भाष्यों ने वेदों की महत्ता को चार चाँद लगा दिए हैं।

३. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका

यह पुस्तक भी संस्कृत तथा हिन्दी में है। इसमें वेदों के भाष्य करने की विधि बताई गई है। वेदों के अनेक विषयों तथा निराकार ईश्वर, विज्ञान आदि का भी परिचय दिया गया है।

४. सत्यार्थ प्रकाश

स्वामी जी का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ यही है। इसका विस्तृत वर्णन इसी पुस्तक के एक अलग पाठ में दिया गया है। यह

पुस्तक हिन्दी में है। वेदों और शास्त्रों के प्रमाणों से स्वामी जी ने कई विषयों का विवेचन किया है।

५. संस्कार विधि

इसमें नामकरण, मुण्डन, विवाह आदि सोलह संस्कारों का वर्णन तथा उनके करने की विधि बताई गई है। पुस्तक की भाषा हिन्दी है।

६. आर्याभिविनय

इसमें प्रार्थना के एक सौ आठ वेद मन्त्र दिए गए हैं। साथ ही हिन्दी में अर्थ किये गये हैं। इस पुस्तक द्वारा स्तुति, प्रार्थना उपासना का सच्चा स्वरूप समझ में आ जाता है।

७. आर्योद्देश्य रत्नमाला

एक छोटी-सी पुस्तक में धर्म सम्बन्धी अनेक शब्दों के लक्षण संक्षेप में दिए गए हैं। पुस्तक हिन्द में है। पुराने भ्रमों को मिटाने के लिए धर्म का सच्चा स्वरूप वर्णित है।

८. व्यवहारभानु

एक छोटी-सी हिन्दी पुस्तक में स्वामी जी ने यह बताया है कि संसार में लोगों को आपस में व्यवहार किस प्रकार करना चाहिए। इसमें छोटी-छोटी कथाओं द्वारा मनुष्य को सत्य की ओर प्रेरित किया गया है।

९. गोकरुणानिधि

हिन्दी की इस छोटी-सी पुस्तिका में स्वामी ने गौ आदि उपकारक प्राणियों की आर्थिक महत्ता दिखाकर उन पर दया करने की प्रेरणा की है।

अन्त में विद्यार्थियों को यह बात भली-भांति स्मरण रखनी चाहिए कि आर्य-समाज इन्हीं को सबसे उत्तम, मुख्य और प्रमाणिक ग्रन्थ मानता है। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग, उपाँग, रामायण, महाभारत, गीता, स्मृति आदि में जो कुछ भी वेदों के अनुकूल है उसे प्रमाण्य और जो प्रतिकूल है, उसे अप्रमाण्य मानता है।

—:o:—

पाठ 21

भजन

दयानन्द देश हितकारी, तेरी हिम्मत पर बलिहारी । (ध्रु.)
अविद्या जग में छाई थी, नींद गफलत की आई थी ।
तेरा आना था गुणकारी, तेरी हिम्मत पर बलिहारी ॥१॥
पतंजलि व्यास हो गुजरे, भारत के दाग धो गुजरे ।
तेरा आना था गुणकारी, तेरी हिम्मत पर बलिहारी ॥२॥
तू वेदों का प्यारा था, तू भारत का सितारा था ।
तेरे दर्शन पे मैं वारी, तेरी हिम्मत पर बलिहारी ॥३॥
तेरे तेजस्वी चेहरे से, तेरी ब्रह्मचर्य विद्या से ।
थी डरती दुनिया यह सारी, तेरी हिम्मत पर बलिहारी ॥४॥
चलाई ब्रह्म की पूजा, समाज बन गई हर जा ।
तेरा उपकार है भारी, तेरी हिम्मत पर बलिहारी ॥५॥
भारत के भाग्य खोटे थे, हुए स्वामी जुदा हम से ।
हुआ दुःख सबको है भारी, तेरी हिम्मत पर बलिहारी ॥६॥

—●—

पाठ 22

श्री गुरु गोबिन्द सिंह जी

जन्म

श्री गुरु गोबिन्द सिंह जी का जन्म पटना साहब (बिहार) नगर में हुआ था। आपके पिता श्री गुरु तेगबहादुर जी तथा माता गुजरी जी थीं। आपका पालन-पोषण माता जी की सरक्षता में पटना में ही हुआ। क्योंकि गुरु जी आसाम आदि में धर्म प्रचार अभियान पर गए हुए थे। वहाँ उनके जन्म स्थान पर बने गुरुद्वारे को गुरुद्वारा 'हरमन्दिर साहब' भी कहते हैं।

बाल्यकाल और शिक्षा

आप बाल्यकाल से ही एक निडर और साहसी व्यक्ति थे। छोटी आयु में ही बालकों की छोटी-छोटी टोलियां बना कर युद्ध इत्यादि का अभ्यास किया करते थे। नौका खेना, कुश्ती लड़ना इत्यादि आपके प्रिय खेल थे। आपकी निडरता का पता आपके बाल्यकाल की एक घटना से साफ मिलता है। नवाब की सवारी पटना में से होकर जा रही थी, तो आपको एक ओर हट कर सलाम करने को कहा गया। आपने न केवल ऐसा करने से इन्कार ही कर दिया, बल्कि प्रश्नात्मक ढंग से पूछा कि "हम ऐसा क्यों करें ?" आपके कहने पर आपके किसी भी साथी नें सवारी को सलाम नहीं किया ? श्री गुरु गोबिन्द सिंह जी निडर

और साहसी नेता होने के साथ-साथ बाल्यकाल से ही भोले भी थे।

श्री गोबिन्दराय (बाद में गुरु गोबिन्द सिंह जी) ने एक बार खेलते-खेलते एक कड़ा नदी में फेंक दिया। माता जी के पूछने पर आपने कोई उत्तर नहीं दिया, तो इनकी माता जी इन्हें साथ लेकर नदी पर गयीं और पूछा—"गोबिन्द ! कहाँ फेंका ?" इन्होंने नदी के प्रवाह की ओर संकेत किया। माता जी ने फिर पूछा—'बेटा ! कैसे फेंका ?" गोबिन्द राय जी ने झट दूसरा कड़ा भी नदी में फेंक कर कहा—"माता जी ऐसे।"

एक बार कश्मीरी पण्डितों ने इनके पिता श्री तेगबहादुर के समक्ष अपने ऊपर हुए औरंगजेब के अत्याचारों का वर्णन किया और कहा कि वह उन्हें मुसलमान बनने के लिए विवश कर रहा है। यह सुनकर गुरु तेग़बहादुर जी ने आँखें बन्द कर लीं और सोच में पड़ गये। गुरु जी के पास बैठे उनके दस वर्ष के पुत्र गोबिन्दराय ने कहा—"पिता जी ! चिन्ता का क्या कारण है ?" गुरु जी ने आंखें खोल दीं और गम्भीरता से कहा—'बेटा ! हिन्दू धर्म संकट में हैं ! औरंगजेब सारे भारत वर्ष को मुसलमान बनाना चाहता है। इन अत्याचारों को रोकने के लिए किसी महापुरुष के बलिदान की आवश्यकता है" यह सुनकर बालक गोबिन्द राय जी ने अत्यन्त गम्भीरता और साहस से कहा—"इन युग में आप से बढ़कर कौन महापुरुष हो सकता है ? आप ही धर्म की रक्षा करें।" इन शब्दों को सुनकर गुरु महाराज ने कश्मीरी पण्डितों से कहा—"आप लोग ओरंगजेब को कहला भेजें कि हमारे गुरु तेगबहादुर यदि इस्लाम स्वीकार कर लेंगे तो हम भी कर लेंगे।" यह सुनकर पन्डितजन कश्मीर लौट गये। इसी दिए हुए वचन के कारण गुरु तेगबहादुर जी धर्म की रक्षा के लिए

दिल्ली में बलिदान हो गये। पिता की मृत्यु के बाद गोबिन्द राय जी ने गुरु गद्दी को सम्भाला और दशवें गुरु बने।

परिवर्तन

औरंगजेब के बढ़ते हुए अत्याचार, जिनका शिकार श्री गुरु तेगबहादुर जी बन चुके थे, अपनी चरम सीमा पर पहुंच गए। मुगल सैनिक दर्शनार्थं आने वाली संगतों पर हमले करते और उनसे सब कुछ छीन लेते। इन सब ने गुरु की भक्तिपूर्ण वाणी को वीरता पूर्ण शब्दों से भर दिया—गुरु कह उठे—

सूरा सो पहचानिये, जो लड़े दिन के हेत ।
पुर्जा-पुर्जा कट मरे, कबहुं न छाड़े खेत ..

इसी समय गुरु जी ने 'खालसा पंथ' की स्थापना की और सभी सिखों को सिंह नाम से सुशोभित किया और अपना नाम भी गोबिन्द सिंह रखा, और इसके अतिरिक्त सिखों को पाँच चिह्न दिये—केस, कंघा, कच्छा, कड़ा, कृपाण गुरु जी ने इस वीर पंथ का निर्माण किया, ताकि हिन्दू धर्म को अत्याचारों से बचाया जा सके। वे कहा करते थे—

भेड़ों को मैं शेर बनाऊँ, राजन के संग जंग लड़ाऊँ ।
भूप गरीबन को कहलाऊँ, चिड़िया से मैं बाज मराऊँ ।।
सवा लाख से एक लड़ाऊं, तबे गोबिन्द सिंह नाम कहाऊँ ।।

मुगलों के संघर्ष

गुरुजी ने अपनी मुट्ठी भर खालसा सेना से अनेकों बार से टक्कर ली परन्तु शाही सेना से लड़ना कोई हँसी-खेल न था। एक दिन मुगल सुबेदारों में सरहिन्द के नवाब ने गुरु जी पर कीरतपुर में आक्रमण कर दिया और फिर आनन्दपुर

को घेरे में ले लिया। इस युद्ध में अनेक साथियों के साथ गुरु जी

के दो बड़े पुत्र भी शहीद हुए तथा अन्य दो छोटे पुत्र कैद कर लिये गये और उन्हें सरहिन्द में दीवारों में चुनवा दिया गया।

दक्षिण यात्रा और मृत्यु

गुरु जी नें दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। वहाँ आपको भेंट 'बन्दा बैरागी' से हुई। यह वीर गुरु जी की प्रेरणा पाकर पंजाब आया और कई वर्षों तक मुगल सेनाओं से लड़ता रहा। दक्षिण में घूमते हुए गुरु जी पर एक पठान ने तलवार से वार किया और आपका निधन हो गया।

गुरु महाराज एक युग प्रबन्धक महापुरुष थे। एक विद्वान् ने सच ही लिखा है—"यदि गुरु नानक देव जी ने एक पथ की नींव रखी तो गुरु गोबिन्द सिंह जी ने उसे देशभक्ति का मन्त्र दिया।" गुरु जी अपनें आपको सदा अकाल पुरुष का दास कहते थे—

मैं हूं परम पुरुष को दासा देखन आयो जगत् तमासा।
जो हमको परमेश्वर उचरहीं, ते नर नरक कुंड में परहीं॥

देश प्रेम तो गुरु जी में कूट-कूट कर भरा हुआ था। चारों वेटों के बलिदान हो जानें पर आप रत्ती भर विचलित न हो पाये थे। कई बार माता सुन्दरी के प्रश्न पर कि चारों पुत्र कहाँ हैं संगत की ओर संकेत करके आपने कहा—

इन पुत्रन के कारनै, वार दिये पुत चार।
चार मुए तो क्या हुआ, जीवत कई हजार॥

—●—

मुद्रक :— डी०ए०वी० इन्स्टीट्यूट ऑफ प्रिंटिंग एण्ड पब्लिकेशन्स,
रोहणी दिल्ली—११० ०८५